सर्वोदय

गांधीजी

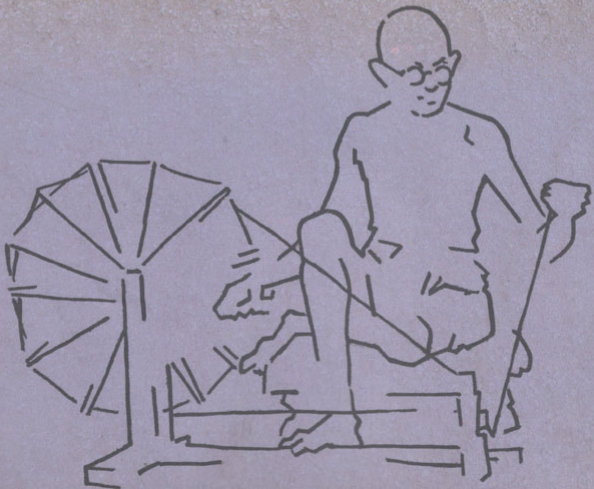

सर्वोदय

गांधीजी

सम्पादक

भारतन् कुमारप्पा

पहली आवृत्ति, १९५५

ISBN 978-81-7229-325-3

मुद्रक और प्रकाशक

विवेक जितेन्द्र देसाई

नवजीवन मुद्रणालय

अहमदाबाद-३८० ०१४

फोन: ०७९-२७५४०६३५, २७५४२६३४

E-mail: sales@navajivantrust.org | Website: www.navajivantrust.org

संपादक का निवेदन

लोगों की तरफ़ से जोरदार माँग होने का कारण नवजीवन प्रकाशन मंदिर ने १९५१ में *सर्वोदयः उसके सिद्धांत और कार्यक्रम* नामक एकछोटी-सी पुस्तिका प्रकाशित की थी। उसका मुख्य उद्देश्य कुछ ही पृष्ठों में सर्वोदय समाज के सिद्धांतों और कार्यक्रम के बारे में जानकारी देना था। गांधीजी के निधन के पश्चात उनके अनुयायियों ने यह भ्रातृमण्डल वर्धा में शुरू किया था। वर्तमान पुस्तक में सर्वोदय अथवा सबके कल्याण की चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि वह कैसे सिद्ध किया जा सकता है।

गांधीजी के मतानुसार सर्वोदय का अर्थ आदर्श समाज-व्यवस्था है। इसका आधार सर्वव्यापी प्रेम है। इसलिए इसमें निरपवाद रूप से राजा और रंक, हिंदू और मुसलमान, छूट और अछूत, काले और गोरे, संत और पापी सबके लिए स्थान है। किसी भी व्यक्ति या समूह का दमन, शोषण या विनाश नहीं किया जाएँगा। इस समाज-व्यवस्था में सब बराबर के सदस्य होंगे, सबको उनकी मेहनत की पैदावार में हिस्सा मिलेगा, बलवान दुर्बलों की रक्षा करेंगे और उनके ट्रस्टी का काम करेंगे तथा प्रत्येक सदस्य सबके कल्याण का ध्यान रखेगा।

चूँकि प्रेम का एक मुख्य लक्षण प्रेमपात्र के खातिर आत्म-समर्पण करना, सर्वस्व दे देना या मर मिटना है, इसलिए सर्वोदय की सिद्धि के लिए संयम और कष्ट-सहन एक मुख्य शर्त है। भारत में सदियों से त्याग और कठोर आत्म-संयम की परंपरा चली आई है, इसलिए वह सर्वोदय के लिए सबसे अनुकूल भूमि है। इसके ठीक विपरीत पाश्चात्य देशों में आराम, आवश्यकताओं की वृद्धि और भोग-विलास का मोह है। गांधीजी ने पश्चिमी सभ्यता के इस प्रवाह का प्रबल विरोध केवल इसी लिए किया कि वे जानते थे कि यह हमें सर्वोदय अथवा सामाजिक न्याय की दिशा में नहीं ले जाएँगा; यह सिर्फ लोभ, संघर्ष और बलवानों द्वारा निर्बलों के दमन और शोषण को ही जन्म देगा, चाहे व्यवस्था पूँजीवादी हो या साम्यवादी।

इस प्रकार के सर्वव्यापी और त्यागमय प्रेम के तत्त्वज्ञान के लिए गहरे आध्यात्मिक आधारों की ज़रूरत होती है। इसका अर्थ यह है कि उस सर्वव्यापी शक्ति में हमारी सजीव श्रद्धा होनी

चाहिए। इसके लिए कड़े संयम, तालीम और आत्मबल के विकास की भी ज़रूरत है। अपने इस बुनियादी आध्यात्मिक आधार के कारण ही यह साम्यवाद से बिलकुल उलटी चीज़ है; क्योंकि साम्यवाद निश्चित ही भौतिकवादी है, यद्यपि लक्ष्य सर्वोदय और साम्यवाद का एकसा ही है।

सर्वोदय का आधार आध्यात्मिक होने के कारण उसकी सिद्धि के साधन भी आध्यात्मिक हैं। साम्यवाद यह आशा दिलाता है कि आदर्श समाज-व्यवस्था तभी स्थापित की जा सकती है, जब शोषक का पशुबल से नाश कर दिया जाए। इसके लिए वह अपनी रचना वर्ग-द्वेष के आधार पर करता है और समय-समय पर निष्कासन (पर्ज) और युद्ध का आश्रय लेता है। इसके विपरीत, गांधीजी को यह तरीका बिलकुल निरर्थक मालूम हुआ, क्योंकि द्वेष और हिंसा देर-सबेर लौटकर अपने जन्मदाताओं पर वार किए बिना नहीं रहते; वे और ज़्यादा द्वेष तथा हिंसा को जन्म देते हैं। इसलिए उनका विश्वास था कि अन्याय को मिटाने वाला सच्चा तरीका यह है कि अपने कष्ट-सहन और उच्च चरित्र द्वारा अत्याचारी की अंतरात्मा और बुद्धि को प्रभावित करके उसके विचार बदले जाएँ और उसे स्वेच्छापूर्वक नई समाज-व्यवस्था का सहायक बनाया जाए। इस काम के लिए उन्हों ने जिस कार्य-पद्धति का विकास किया, वह सत्याग्रह की अर्थात् स्वयं अवर्णनीय कष्ट उठाकर और मृत्यु का भी आलिंगन करके सत्य और अहिंसा पर अटल रहने की पद्धति है। यह गांधीजी की विशिष्ट देनों में से एक है और उनकी शिक्षा का केन्द्रबिंदु है।

गांधीजी आदर्श समाज-व्यवस्था के निरर्थक चित्र खींचने में विश्वास नहीं रखते थे। इस आदर्श को वे जीवन के ध्रुवतारे से अधिक नहीं मानते थे, जिसकी सहायता से मानव-जीवन के तूफानों में से खेकर जीवन-नैया को पार लगाया जा सकता है। दूर के दृश्य उन्हें लुभाते नहीं थे। इसलिए उन्होंने हमें आदर्श समाज-व्यवस्था का विस्तृत चित्र देने का प्रयास नहीं किया । उन्हें साधनों की अर्थात् इस बात की ज़्यादा चिंता थी कि आदर्श को ध्यान में रखते हुए वर्तमान का निर्माण कैसे किया जाए। उन्हें विश्वास था कि अगर हम अपने तात्कालिक वर्तमान काल को दृष्टि में रखकर अपने आदर्श पर अमल कर सकें, तो हमारा उद्देश्य अवश्य सिद्ध होगा। तदनुसार वे रोजमर्रा सामने आने वाली समस्याओं को सर्वोदय के दृष्टिकोण से हल करने का प्रयत्न करते थे।

उदाहरण के लिए, वे समस्याएँ उद्योगवाद, पूँजी और श्रम, ज़मींदार और किसान वगैरा की थीं, जिनका इस पुस्तक में विवेचन किया गया है।

गांधीजी के इस प्रकार के मूलत: यथार्थवादी और व्यावहारिक दृष्टिकोण से आश्चर्यजनक लाभ हुआ है, क्योंकि उनके अवसान के बाद उनके अनुयायियों ने राष्ट्र के सामने आने वाली तात्कालिक समस्याओं पर उनके सत्य और अहिंसा के महान सिद्धांत लागू करने का काम हाथ में ले लिया है। इनमें सबसे बड़ी समस्या बेशक लोगों को दरिद्रता और अभाव से मुक्त करने की आर्थिक समस्या है। स्वयं गांधीजी ने ग्रामोद्योगों को पुनर्जीवित करके इसे हल करने की कोशिश की थी। हाथ-कताई इन उद्योगों का प्रतीक थी, जिसका गांधीजी के आर्थिक कार्यक्रम में प्रथम स्थान था। गांधीजी खेती का महत्त्व न समझते हों ऐसी बात नहीं थी। परंतु वे जानते थे कि विदेशी सरकार के हाथ में सत्ता रहते हुए किसान की हालत सुधारने की दिशा में अधिक काम नहीं हो सकता; क्योंकि वह काश्तकारी कानूनों और हृदयहीन लगान-व्यवस्था तथा ग्राम-शासन के भार से बुरी तरह दबा हुआ है। परंतु स्वाधीनता के आते ही गांधीजी के अनुयायियों ने भूमि की समस्या को हाथ में लिया। भूमि की समस्या किसानों के लिए जीवन-मरण का सवाल है, जो हमारे राष्ट्र की रीढ़ हैं।

सर्वोदय में निहित प्रेम के सिद्धांत का यह तकाजा है कि वह आदमी, जो खेती का काम करता है, उत्पादन में साधन भूमि से वंचित नहीं रखा जाना चाहिए। किसान को जमीन देने से इनकार करना उसे आजीविका का साधन देने से इनकार करना है और उसे ऐसी लाचारी की हालत में फँसा देना है जिसके कारण वह शोषण और गुलामी का शिकार बन जाता है। परंतु उस ज़मींदार को मिटाएँ बिना, जो मुफ्तखोर बनकर भूमिहीन मज़दूरों के श्रम पर जिंदा रहता है, भूमिहीनों को भूमि कैसे दिलाई जाए?

इसी समस्या को हल करने का काम श्री विनोबा भावे ने, जो १९१६ से गांधीजी के निकट के साथी और शिष्य रहे हैं, अप्रैल १९५१ में भारत के एक हिंसाग्रस्त और साम्यवादी प्रदेश (तेलंगाना) में हाथ में लिया। उनका हल गांधीजी की शिक्षा के अनुसार है। उन्हों ने भूस्वामियों

की उदात्त भावनाओं को अपील करके भूदान प्राप्त किया। इस प्रकार उनके महान और पवित्र भूदान-आंदोलन का आरंभ हुआ, जिसने अपनी विलक्षण सफलता से संसार को चकित कर दिया है। अभी तक लगभग २० लाख एकड़ भूमि इस उपाय से भूमिहीनों के लिए प्राप्त की जा चूकी है और यह आशा की जाती है कि १९५७ तक ५ करोड़ एकड़ जमीन भारत के ५ करोड़ भूमिहीन श्रमिकों के लिए जुटाने का लक्ष्य पूरा कर लिया जाएगा, ताकि उस वर्ष तक भारत में कोई बेजमीन भज़दूर न रह जाए। यह एक ऐसी रक्तहीन क्रांति है, जिसकी संसार के इतिहास में कोई मिसाल नहीं है। इस अहिंसक क्रांति के जरिए शोषक की हत्या करने और उसकी संगठन-शक्ति और व्यवस्था-शक्ति से अपने को वंचित करने के बदले उसका हृदय-परिवर्तन करके और उसकी योग्यता का समाज के कल्याण के लिए उपयोग करके सर्वोदय की दिशा में कदम उठाया जाता है।

चूँकि यह और इसके बाद शुरू हुआ विनोबा का संपत्तिदान आंदोलन गांधीजी के सर्वोदय आंदोलन से पैदा होने वाली एक महत्त्वपूर्ण घटना है, इसलिए नवजीवन ट्रस्ट ने हाल ही में एक अलग पुस्तक प्रकाशित की है, जिसका नाम 'भूदान-यज्ञ'[१] रखा गया है। इसमें भूदान और संपत्तिदान के विषय पर विनोबा के लेखों और भाषणों का संग्रह हैं। इसलिए हमने उस विषय को यहाँ सम्मिलित नहीं किया है, यद्यपि वह सर्वोदय आंदोलन का आवश्यक अंग है।

भूदान और संपत्तिदान से संतोष न करके विनोबा ने हाल में ही श्रमदान भी सुझाया है। इससे सब लोग—न केवल भूस्वामी और रुपये वाले ही, बल्कि वे भी जिनके पास देने को केवल श्रम है—असहायों और गरीबों के कल्याण के लिए किए जाने वाले सेवा और त्याग के इस आंदोलन में भाग ले सकेंगे।

इस व्यावहारिक विकास के सिवा विनोबा और गांधीजी के कुछ और निकट के साथियों ने गांधीजी के सर्वोदय-संबंधी विचारों को, खास तौर पर आर्थिक समता, शरीर-श्रम, अपरिग्रह और योजना-कार्य के बारे में कुछ और आगे बढ़ाया है। उनमें से कुछ चुने हुए विचार इस ग्रंथ के दूसरे भाग में यह दिखाने को दिए गए हैं कि सर्वोदय-संबंधी गांधीजी के विचारों का विकास कैसे

हो रहा है। इस भाग में वह कार्यक्रम भी शामिल कर दिया गया है, जिसकी गांधीजी की मृत्यु के बाद सर्वोदयी कार्यकर्ताओं के लिए हिमायत की जा रही है। इस कार्यक्रम में हमने भूदान को शामिल नहीं किया है, यद्यपि आजकल सर्वोदयी कार्यकर्ताओं का सबसे ज़्यादा ध्यान इसी एक कार्य में लगा हुआ है। इसका एकमात्र कारण यह है कि वह भूदान के विषय पर प्रकाशित उपरोक्त पुस्तिका में आ जाता है।

पाठकों की सुविधा के लिए हमने गांधीजी के तीस साल से अधिक समय के लेखों और भाषणों में से सिर्फ वे ही अंश चुने हैं, जिनसे सर्वोदय-संबंधी उनकी शिक्षा के खास खास पहलुओं पर रोशनी पड़ती है। प्रस्तुत ग्रंथ के पहले या बड़े भाग में इन्हीं का संग्रह किया गया है। जो पाठक गांधीजी के विचारों को और भी विस्तार से जानने के लिए उत्सुक हों, उन्हें गांधीजी की दूसरी पुस्तकें जैसे *अहिंसक समाजवाद की ओर, हमारे गाँवों का पुनर्निर्माण, रचनात्मक कार्यक्रम, बुनियादी शिक्षा, स्त्रियाँ और उनकी समस्याएँ, शांतिवादियों के लिए सांप्रदायिक एकता, शराब, मादक द्रव्य और जुआ* आदि पढ़नी चाहिए।

गांधीजी के 'यंग इंडिया' और 'हरिजन' साप्ताहिकों से जो अंश यहाँ उद्धृत किए गए हैं, उनके नीचे तारीखें दी गई हैं । गांधीजी की पुस्तकों के उद्धरणों के बारे में यह जानना दिलचस्पी की बात होगी कि *हिंद स्वराज्य* १९०९ में लिखी गई थी, *मंगल-प्रभात* १९३० में, *सर्वोदय* पहले-पहल गुजराती में १९०८ में और अंग्रेजी में *अन्टु दिस लास्ट: ए पैराफ्रेज* के नाम से १९५१ में तथा *आत्मकथा* १९२७ में और १९२९ में। *गांधीजीज़ राइटिंग्स एण्ड स्पीचेज़* का पहला संस्करण १९१७ में और चौथा १९३३ में मद्रास की नटेसन एण्ड कंपनी ने प्रकाशित किया था।

सामाजिक तत्त्वज्ञान में सर्वोदय को भारत की विशेष देन माना जा सकता है। इसकी जड़ें तो लगभग ३००० वर्ष पहले पड़ चुकी थीं, जब बुद्ध और महावीरने प्रेम या अहिंसा का उपदेश देने के लिए भ्रमण किया था और प्राचीन ऋषियों ने सदियों तक तप और संयम की शिक्षा दी थी,

उनका आचरण किया था तथा सम्मिलित परिवार, वर्ण और ग्राम-संगठन द्वारा व्यक्तियों में इन गुणों के संस्कार डाले थे। परिवार, वर्ण और ग्राम-समाज़ के जीवन में व्यक्ति अपने समूह के खातिर खुद अपनी इच्छाओं का दमन करना, अपनी पैदावार में दूसरों को हिस्सा देना, उनके साथ सहयोग करना, समूह के प्रति वफादारी महसूस करना और उसके अनुशासन को स्वीकार करना सीखता था। वह आर्थिक सुरक्षितता का उपभोग करता था, क्योंकि समूह की ओर से उसे काम और अल्पतम आवश्यकताओं की पूर्ति का विश्वास दिलाया जाता था। परिवार की तरह उसके और उसके समूह के दूसरे आदमियों के बीच आत्मीयता और समानता की भावना रहती थी। वह साम्यवाद की हिंसा से रहित ग्राम-साम्यवाद था। इन्हीं स्रोतों से गांधीजी ने सर्वोदय अथवा आदर्श समाज-व्यवस्था की प्रेरणा ली थी, हालाँकि तात्कालिक रूप में यह प्रेरणा उन्हें रस्किन के *अन्टु दिस लास्ट* को पढ़ने से मिली थी। गांधीजी का पक्का विश्वास था कि अगर व्यक्ति और समाज के जीवन का आधार इस प्रकार प्रेम और ऊँचे नैतिक तथा आध्यात्मिक सिद्धांतों पर नहीं होगा, तो कितना ही उपदेश दीजिए, शांति के लिए कितने ही विश्व-संगठन बनाइए और लड़ाई का कितना ही विरोध कीजिए उससे कोई लाभ नहीं होगा। क्योंकि शांति आखिर में हमारे दैनिक जीवन का ही परिणाम है। इसलिए उन्होंने यह दिखाने की जी-तोड़ कोशिश की, जैसी कि हमारे पूर्वजों ने भूतकाल में की थी, कि अगर हमें आदर्श समाज-व्यवस्था की ओर प्रगति करनी है, तो व्यक्ति और समाज का कायापलट कैसे किया जाए।

मानव-जाति के सामने आज प्रश्न यह है कि हम सबके लिए शांति और स्वतंत्रता कैसे प्राप्त कर सकते हैं। क्या हम भोग-विलास के और संसार की साधन-सामग्री तथा बाजारों की लालच वाले आक्रमणकारी उद्योगवाद के मार्ग पर अग्रसर रहकर और अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को वश में रखने के खातिर सैनिक बल के जरिए भीमकाय संगठन बनाकर इन्हें प्राप्त कर सकेंगे, या इन्हें प्राप्त करने के लिए हमें गांधीजी के सादगी और आर्थिक सवयंपूर्णता वाले छोटे सामाजिक संगठन के उस मार्ग पर चलना चाहिए, जिसमें व्यक्ति सेवा और त्याग के द्वारा सबके लिए जियेगा? दोनों मार्ग हमें एक-दूसरे से बिलकुल उलटी दिशाओं में ले जाते हैं। इसमें समझ की कोई भूल

नहीं है। एक मार्ग अनिवार्य रूप में द्वेष, युद्ध और विनाश की ओर ले जाता है और दूसरा प्रेम, शांति और सबके समान कल्याण की तरफ़ ले जाने वाला है। इन दो मार्गों में से किसी एक को चुनने पर मनुष्य का भविष्य निर्भर करता है। समय आ गया है कि भारतवासी और दूसरे देशों के लोग ठहर कर इन बातों पर गंभीर विचार करें। इसी उद्देश्य से यह पुस्तक संकलित की गई है। इसका लक्ष्य संसार के सामने गांधीजी का मार्ग या दूसरे शब्दों में गांधीजी का शांति और स्वतंत्रता का संदेश पेश करना है—उस संसार के सामने जो आपसी संघर्ष से छिन्नभिन्न हो रहा है और जिस पर आत्मघाती युद्ध और सत्ता के अत्यधिक केन्द्रीकरण का भूत दिनोंदिन अधिक सवार होता जा रहा है।

मूल अंग्रेजी पुस्तक का हिंदी अनुवाद श्री रामनारायण चौधरी ने किया है।

भारतन् कुमारप्पा

———————————

१. यह पुस्तक हिंदी में भी इसी नाम से नवजीवन से प्रकाशित हुई है।

अनुक्रमणिका

संपादक का निवेदन

पहला भाग—गांधीजी

पहला विभाग: सर्वोदय का अर्थ

१. प्रास्ताविक

२. सर्वभूतहिताय

३. सर्वोदय की रूपरेखा

दूसरा विभाग: इसका आध्यात्मिक आधार

क—प्रास्ताविक

१. साधनों का सबसे बड़ा महत्त्व

२. अधिकार नहीं कर्तव्य

३. नैतिक साधन अत्यावश्यक

ख—आवश्यक सद्गुण

१. सत्य

२. अहिंसा या प्रेम

३. ब्रह्मचर्य

४. अभय

५. अस्तेय

६. अपरिग्रह

७. खानपान में संयम

८. वैराग्य और आत्मत्याग

९. शरीर-श्रम

१०. स्वदेशी

११. सब धर्मों के लिए आदर

१२. अस्पृश्यता-निवारण

तीसरा विभाग: आर्थिक व्यवस्था

क — अहिंसक अर्थ-व्यवस्था

१. अहिंसात्मक आधार
२. आर्थिक क्षमता के लिए मानव-तत्त्व अत्यावश्यक
३. मनुष्य ही संपत्ति है, सोना-चांदी नहीं
४. न्यायपूर्ण मज़दूरी
५. आर्थिक समानता
६. आय की समानता
७. विकेन्द्रीकरण
८. अहिंसक धंधे
९. प्राचीन भारत में सर्वोदय

ख — उद्योगवाद

१. उद्योगवाद: एक अभिशाप
२ मशीनें

ग— पूँजी और श्रम

१. पूंजी और श्रम
२. कोई नैतिक अधिकार नहीं
३. ट्रस्टीशिप
४. गांधीजी का ट्रस्टीशिप का सिद्धांत

ध — जमींदार और किसान

१. एक आदर्श जमींदार
२. जमींदारों से
३. भूमि का स्वामित्व

४. किसान और जमींदार
५. सहकारी खेती

चौथा विभाग: समाज-व्यवस्था

क — मर्यादित समाज: मनुष्य

१. अहिंसा—एक सामाजिक सद्गुण
२. व्यक्ति बनाम समाज
३. अस्पृश्यता के लिए स्थान नहीं
४. वर्णाश्रम
५. वर्ण के रूप में जाति
६. अंतर्जातीय विवाह
७. स्त्रियों का स्थान
८. स्त्री-पुरुष के समान अधिकार
९. विवाह
१०. वैधव्य
११. तलाक
१२. गर्भ-निरोध

ख — विशाल समाज: पशु

१. गोरक्षा
२. पशुओं के प्रति अहिंसा
३. विश्व-बंधुत्व
४. पशुबलि

पाँचवाँ विभाग: राजनीतिक व्यवस्था

क — सर्वोदयी राज्य

१. चरित्र आधार होगा
२. सर्वोदयी लोकतंत्र

३. ध्येय

४. हिंदुस्तानी गवर्नर

५. राजनीतिक सत्ता

६. स्वशासन

७. अल्पसंख्यकों का अधिकार

८. मताधिकार

९. प्रांतीयता

१०. राज्य धर्म-निरपेक्ष हो

ख — उसके वैदेशिक संबंध

१. ब्रिटेन के साथ साझेदारी

२. दूसरे राष्ट्रों के साथ संबंध

३. आंतरराष्ट्रीय शांतिसंघ

छठा विभाग: बुराई का विरोध

क — सत्याग्रह की पद्धति

१. प्रेम का प्याला

२. सत्याग्रह

३. कायरता की गुंजाइश नहीं

४. दबाव नहीं

५. सत्याग्रह का बल कैसे बढ़ता है

६. सत्याग्रहियों के लिए नियम

७. नम्रता

८. उपवास

९ धरना न दिया जाय

१०. ज़बरदस्ती या असहिष्णुता नहीं

११. सत्याग्रह कौन करे?

१२. सत्याग्रह का ढंग

१३. संख्या का महत्त्व नहीं

१४. सत्याग्रह—अंतिम उपाय

ख — आर्थिक असमानता

१. असहयोग

२. वर्ग-विग्रह

३. मज़बूर-संगठन

४. सरकारी कार्रवाई

ग — सामाजिक अव्यवस्था

१ दंगे

२. चोरियाँ

३. स्त्रियों पर हमले

घ — राजनीतिक बुराइयाँ

१. बुरा राज्य

२. बाहरी हमला

सातवाँ विभाग: कार्यकर्ता और कार्यक्रम

क — कार्यकर्ता

१. सर्वोदयी कार्यकर्ता की योग्यताएँ

ख — कार्यक्रम

१. किसान

२. श्रम

३. ग्रामसेवा

४. खादी और कताई

५. शिक्षा और संस्कृति

६. आरोग्य और आरेग्यशास्त्र

७. शराब और नशीले पदार्थों की बुराई

८. स्त्रियाँ

९. सांप्रदायिक एकता

१०. अस्पृश्यता-निवारण

११. आर्थिक समानता

दूसरा भाग-विनोबा भावे और अन्य लोग

आठवाँ विभाग: नई क्रांति

१. नई क्रांति

नवाँ विभाग: आर्थिक समानता

१. आर्थिक समानता

२. न्यायपूर्ण मजदूरी

३. विवेकपूर्ण समानता

४. समानता और दया

५. साम्यवाद और सर्वोदय में भेद

दसवाँ विभाग: आधार रुपया नहीं, श्रम

१. श्रम का गौरव

२. मध्यमवर्ग के लोगों से

३. उत्पादक श्रम की आवश्यकता

४. खादी-स्वावलम्बी श्रम का प्रतीक

५. शरीर-श्रम

६. पैसे से मुक्ति

७. अपरिग्रह और संस्थाएँ

८. रुपये का दान नहीं

ग्यारहवाँ विभाग: ग्राम-सर्वोदय की दिशा में

१. हिस्सेदारी का सिद्धांत
२. गाँव की व्यवस्था
३. सर्वोदयी शिक्षा
४. प्रौढ़-शिक्षा
५. सर्वोदय की रूपरेखा
६. आर्थिक समता की ओर
७. सर्वोदयी योजना

बारहवाँ विभाग: कार्यक्रम

१. पंचसूत्री कार्यक्रम
२. समग्र सेवा
३. बहिष्कार—रचनात्मक कार्यक्रम के अंग के रूप में

परिशिष्ट : **कहानी**

सर्वोदय . पहला भाग—गांधीजी

पहला विभाग: सर्वोदय का अर्थ

१. प्रास्ताविक

विद्यार्थी-जीवन में पाठ्यपुस्तकों के अलावा मेरा वाचन नहीं के बराबर समझना चाहिए। और कर्मभूमि में प्रवेश करने के बाद तो समय ही बहुत कम रहता है। इस कारण आज तक भी मेरा पुस्तक-ज्ञान बहुत थोड़ा है। मैं मानता हूँ कि इस अनायास के या ज़बरदस्ती के संयम से मुझे कुछ भी नुकसान नहीं पहुँचा है। पर हाँ, मैं यह कह सकता हूँ कि जो भी थोड़ी पुस्तकें मैंने पढ़ी हैं, उन्हें ठीक तौर पर हजम करने की कोशिश अलबत्ता मैंने की है। और मेरे जीवन में यदि किसी पुस्तक ने तत्काल महत्त्वपूर्ण रचनात्मक परिवर्तन कर डाला है, तो वह रस्किन की *अन्टु दिस लास्ट* पुस्तक ही है। बाद में मैंने इसका गुजराती में अनुवाद किया था और वह सर्वोदय के नाम से प्रकाशित भी हुआ है। मेरा यह विश्वास है कि जो चीज़ मेरे अंतरतर में बसी हुई थी, उसका स्पष्ट प्रतिबिंब मैंने रस्किन के इस ग्रंथरत्न में देखा और इस कारण उसने मुझ पर अपना साम्राज्य जमा लिया और अपने विचारों के अनुसार मुझसे आचरण करवाया। हमारी अंतःस्थ सुप्त भावनाओं को जाग्रत करने का सामर्थ्य जिस में होता है वह कवि है। सब कवियों का प्रभाव सब पर एकसा नहीं होता, क्योंकि सब लोगों में सभी अच्छी भावनाएँ समान मात्रा में नहीं होती।

'सर्वोदय' के सिद्धांत को मैं इस प्रकार समझा हूँ:

१. सबके भले में अपना भला है।

२. वकील और नाई दोनों के काम की कीमत एक सी होनी चाहिए, क्योंकि आजीविका पाने का हक दोनों को एकसा है।

३. सादा मज़दूर का और किसान का जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली बात तो मैं जानता था। दूसरी का मुझे आभास हुआ करता था। पर तीसरी तो मेरे विचार-क्षेत्र में आई तक न थी। पहली बात में पिछली दोनों बातें समाविष्ट हैं, यह बात 'सर्वोदय' से मुझे सूर्य-प्रकाश की तरह स्पष्ट दिखाई देने लगी। सुबह होते ही मैं उसके अनुसार अपने जीवन को बनाने की चिंता में लगा।

आत्मकथा, भाग ४, अध्याय १८

२. सर्वभूतहिताय

बात यह है कि अहिंसा का पुजारी उपयोगितावाद (बड़ी से बड़ी संख्या का ज़्यादा से ज़्यादा हित) का समर्थन नहीं कर सकता। वह तो 'सर्वभूतहिताय' यानी सबके अधिकतम लाभ के लिए ही प्रयत्न करेगा और इस आदर्श की प्राप्ति में मर जाएँगा। इस प्रकार वह इसलिए मरना चाहेगा कि दूसरे जी सकें। दूसरों के साथ-साथ वह अपनी सेवा भी आप मर कर करेगा। सबके अधिकतम सुख के भीतर अधिकांश का अधिकतम सुख भी मिला हुआ है। और इसलिए अहिंसावादी और उपयोगितावादी अपने रास्ते पर कई बार मिलेंगे, किन्तु अंत में ऐसा भी अवसर आएँगा जब उन्हें अलग-अलग रास्ते पकड़ने होंगे और किसी-किसी दशा में एक-दूसरे का विरोध भी करना होगा। तर्कसंगत बने रहने के लिए उपयोगितावादी अपने को कभी बलि नहीं कर सकता। अहिंसावादी हमेशा मिट जाने को तैयार रहेगा।

हिन्दी, *नवजीवन*, ९-१२-१९२६

३. सर्वोदय की रूपरेखा

यदि हम चाहते है कि हमारा सर्वोदय[१] अर्थात् सच्चे लोकतंत्र का सपना सच्चा साबित हो, तो हम छोटे से छोटे भारतवासी को भारत का उतना ही शासक समझेंगे जितना देश के बड़े से बड़े आदमी को। इसके लिए शर्त यह है कि सब शुद्ध हों, या न हुए हों तो शुद्ध हो जाएँ। और शुद्धता के साथ-साथ बुद्धिमानी भी होनी चाहिए। तब कोई भी अपने दिल में जाति-जाति और सवर्ण-अवर्ण के बीच भेदभाव नहीं रखेगा । हरएक सबको अपनी बराबरी का समझेगा और उन्हें प्रेम के रेशमी जाल में बाँध रखेगा। कोई किसीको अछूल नहीं मानेगा। हम मेहनत करने वाले मज़दूर और धनी पूँजीपति को समान समझेंगे । सबको अपने पसीने की कमाई से ईमानदारी की रोजी कमाना आता होगा और वे मानसिक और शारीरिक श्रम में कोई फर्क नहीं करेंगे। यह आदर्श स्थिति जल्दी लाने के लिए हम अपने-आपको स्वेच्छासे भंगी बना लेंगे। जिस किसी में भी बुद्धि होगी वह कभी अफीम, शराब या किसी नशीली चीज़ को नहीं छुएगा। प्रत्येक पुरुष स्वदेशी का पालन जीवन-व्रत के रूप में करेगा और हरएक स्त्री को, जो अपनी पत्नी नहीं है, उसकी उम्र के हिसाब से अपनी माता, बहन या पुत्री समझेगा और अपने हृदय में उसके प्रति कभी काम-वासना नहीं रखेगा। जब ज़रुरत पड़ेगी वह अपने प्राण देने को तैयार होगा, मगर दूसरे की जान लेने की कभी इच्छा नहीं करेगा।

हरिजन, १८-१-१९४८

---

१. यहाँ पंचायत राज्य शब्द काम में लिया गया है, जिसका अर्थ गांधीजी की दृष्टि में वही था जो सर्वोदय का है। – सं॰

दूसरा विभाग: इसका आध्यात्मिक आधार

क—प्रास्ताविक

१. साधनों का सबसे बड़ा महत्त्व

ध्येय की सबसे स्पष्ट व्याख्या और उसकी कद्रदानी से भी हम उस ध्येय तक नहीं पहुँच सकेंगे, अगर हमें उसे प्राप्त करने के साधन मालूम नहीं होंगे और हम उनका उपयोग नहीं करेंगे। इसलिए मुझे तो मुख्य चिंता साधनों की रक्षा की और उनके अधिकाधिक उपयोग की है। में जानता हूँ कि अगर हम साधनों की चिंता रख सकें, तो ध्येय की प्राप्ति निश्चित है। में यह भी अनुभव करता हूँ कि ध्येय की ओर हमारी प्रगति ठीक उतनी ही होगी, जितने हमारे साधन शुद्ध होंगे।

यह तरीका लम्बा, शायद हद से ज़्यादा लम्बा दिखाई दे, परंतु मुझे पक्का विश्वास है कि यह सबसे छोटा है।

अमृतबाज़ार पत्रिका, १७-९-१९३३

२. अधिकार नहीं कर्तव्य

अगर सब लोग केवल अधिकारों का आग्रह रखें और कर्तव्यों पर जोर न दें, तो चारों तरफ़ बड़ी गडबडी और अव्यवस्था फैल जाएँगी। यदि अधिकारों के आग्रह के बजाय हरएक अपना कर्तव्य पालन करे, तो मानव-जाति में तुरंत व्यवस्था का राज्य स्थापित हो जाए। यदि आप यह सादा और सार्वत्रिक नियम मालिकों और मज़दूरों, जमींदारों और किसानों, राजाओं और उनके प्रजाजनों या हिंदुओं और मुसलमानों पर लागू करें, तो आप देखेंगे कि भारत और संसार के दूसरे भागों में जीवन और व्यवसाय में आज जैसी पाई जाती है वैसी अशांति और अस्तव्यस्तता पैदा किए बिना जीवन के तमाम क्षेत्रों में अत्यंत सुखद संबंध स्थापित किए जा सकते हैं। जिसे मैं सत्याग्रह का कानून कहता हूँ, वह कर्तव्यों को पूरी तरह समझने और उनसे पैदा होने वाले अधिकारों से उत्पन्न होगा।

उदाहरणार्थ, एक हिंदू का अपने मुसलमान पड़ोसी के प्रति क्या फ़र्ज है? उसका फ़र्ज इन्सान के नाते उससे दोस्ती करना, उसके सुख-दुःख में शरीक होना और संकट में उसकी सहायता करना है। तब उसे अपने मुसलमान पड़ोसी से वैसे ही बरताव की आशा रखने का हक होगा, और बहुत करके उसकी तरफ़ से आशानुसार ही उत्तर मिलेगा। मगर मान लीजिए कि बहुत से हिंदुओं के ठीक बरताव का थोड़े से मुसलमान वैसा ही बदला न दें और हर काम में लड़ाई का ही रुख दिखायें, तो यह उनकी ग़ैर-इन्सानियत की निशानी होगी। तब बहुसंख्यक हिंदुओंका क्या धर्म होगा? अवश्य ही बहुतों के पशुबल से उन्हें दबा देना हिंदुओं का धर्म नहीं होगा। यह तो बिना कमाए अधिकार को हड़प लेना होगा। उनका फ़र्ज होगा कि वे मुसलमानों के गैर-इन्सानियत के व्यवहार को उसी तरह रोकें, जिस तरह वे अपने सगे भाईयों के ऐसे व्यवहार को रोकेंगे।

हरिजन, ६-७-१९४७

३. नैतिक साधन अत्यावश्यक

पश्चिम में लोगों की आम राय यह है कि मनुष्य का एकमात्र कर्तव्य अधिकांश मानव-जाति की सुखवृद्धि करना है, और सुख का अर्थ केवल शारीरिक सुख और आर्थिक उन्नति माना जाता है। यदि इस सुख की प्राप्ति में नैतिकता के कानून भंग किए जाते है, तो उसकी बहुत परवाह नहीं की जाती। इस विचारधारा के परिणाम यूरोप के चेहरे पर स्पष्ट अंकित हैं।

शारीरिक और आर्थिक लाभ की यह एकांगी खोज़, जो नैतिकता का कुछ भी खयाल रखे बिना की जाती है, ईश्वरी कानून के विरुद्ध है, जैसा कि पश्चिम के कुछ बुद्धिमान मनुष्यों ने बता दिया है। इनमें से एक जोन रस्किन था। उसने अपनी 'अन्टु दिस लास्ट' नामक पुस्तक में दावा किया है कि मनुष्य तभी सुखी हो सकते हैं, जब वे नैतिक कानून का पालन करें।

दुनिया के सभी धर्मों में सदाचार एक आवश्यक अंग माना गया है, परंतु धर्मों के अलावा हमारी साधारण समझ भी नैतिक नियमों के पालन की आवश्यकता बताती है। उनका पालन करके ही हम सुखी होने की आशा कर सकते हैं।

(रस्किन-कृत *अन्टु दिस लास्ट*, के गांधीजी के अनुवाद की भूमिका से, १९५९; पृ॰ ९-११)

ख—आवश्यक सद्गुण

१. सत्य

हमारी सारी प्रवृत्तियों का केन्द्र सत्य होना चाहिए। सत्य हमारे जीवन का प्राण होना चाहिए। धर्मयात्री की प्रगति में जब एक बार यह मंजिल आ जाती है, तब सही जीवन के और सब नियम अनायास आ जाते हैं और उनका पालन स्वाभाविक बन जाता है । परंतु सत्य के बिना जीवन में किसी भी सिद्धांत या नियम का पालन असंभव है।

सत्य ईश्वर का सही नाम है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने ज्ञान के अनुसार सत्य का पालन करे, तो उसमें कुछ भी बेजा नहीं है। बेशक, वैसा करना उसका कर्तव्य है। फिर अगर इस प्रकार सत्यपालन में किसीसे कोई भूल हो जाती है, तो वह अपने-आप ठीक हो जाएँगी । क्योंकि सत्य की खोज़ में तप—स्वयं कष्ट सहने की ज़रूरत होती है, कभी कभी उसके पीछे मर मिटना होता है। इसमें स्वार्थ के लिए किंचित् भी गुंजाइश नहीं हो सकती। सत्य की ऐसी निःस्वार्थ खोज़ में कोई बहुत समय तक पथभ्रष्ट नहीं हो सकता। ज्यों ही वह गलत रास्ते जाता है, त्यों ही ठोकर खाकर गिरता है और इस प्रकार फिर सही मार्ग पर लग जाता है।

मंगल-प्रभात, १९४५; पृ॰ २-३.

२. अहिंसा या प्रेम

अहिंसा ऐसी स्थूल चीज़ नहीं है जैसी बताई गई है। बेशक, किसी प्राणी को चोट न पहुँचाना अहिंसा का एक अंग है। परंतु वह तो उसका छोटे से छोटा चिह्न है। अहिंसा के सिद्धांत का भंग हर बुरे विचार से, अनुचित जल्दबाज़ी से, झूठ बोलने से, घृणा से और किसी का बुरा चाहने से भी होता है। दुनिया के लिए जो वस्तु ज़रूरी है, उस पर अधिकार जमाने से भी इस सिद्धांत का भंग होता है।

अहिंसा के बिना सत्य की खोज़ और प्राप्ति असंभव है । अहिंसा और सत्य आपस में इतने ओतप्रोत है कि उन्हें एक-दूसरे से अलग करना लगभग असंभव है। वे सिक्के या इससे भी बेहतर किसी चिकनी चकती के दो पहलुओं की तरह है। कौन कह सकता है कि उनमें कौन-सा पहलू उलटा और कौन-सा सीधा है? फिर भी अहिंसा साधन है; सत्य साध्य है। साधन तभी साधन हैं जब वे हमारी पहुँच के भीतर हों, और इसलिए अहिंसा हमारा सर्वोपरी कर्तव्य है। यदि हम साधनों की सावधानी रखें तो आगे-पीछे हमारी साध्य सिद्धि होकर रहेगी । जब एक बार हमने इस मुद्दे को अच्छी तरह समझ लिया, तो अंतिम विजय असंदिग्ध है ।

मंगल-प्रभात, १९४५; पृ॰ ७-९

जब अहिंसा को हम जीवन का सिद्धांत मान लेते है, तो वह हमारे सारे जीवन में व्याप्त हो जानी चाहिए; केवल विशेष मौकों पर ही उसका उपयोग नहीं होना चाहिए। यह मानना गहरी भूल हे कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के लिए ही अच्छी है, और जनसमूह के लिए नहीं ।

हरिजन, ५-९-१९३६

यदि हम लिखित इतिहास के आदिकाल से लेकर हमारे अपने समय तक के क्रम पर नज़र डालें, तो हमें पता चलेगा कि मनुष्य अहिंसा की तरफ़ बराबर बढ़ता चला आ रहा है। हमारे प्राचीन पुरखे मानव-भक्षी थे। फिर एक समय ऐसा आया जब लोग मानव-भक्षण से ऊब गए और शिकार पर गुजर करने लगे। आगे चलकर मनुष्य को आवारा शिकारी का जीवन व्यतीत करने में भी शर्म

आने लगी। इसलिए वह खेती करने लगा और अपने भोजन के लिए मुख्यत: वह धरती माता पर निर्भर हो गया। इस प्रकार एक खानाबदोश की ज़िंदगी को छोड़कर उसने सभ्य और स्थिर जीवन अपनाया, गाँव और शहर बसाये और एक परिवार के सदस्य से वह समाज़ और राष्ट्र का सदस्य बन गया। ये सब उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अहिंसा और घटती हुई हिंसा के चिह्न हैं। इससे उलटा होता तो जैसे बहुत से निचली श्रेणी के प्राणियों की जातियाँ लुप्त हो गयीं, वैसे है मानव-जाति भी लुप्त हो गई होती ।

पैगम्बरों और अवतारों ने भी थोड़ा-बहुत अहिंसा का ही पाठ पढ़ाया है। उनमें से एक ने भी हिंसा की शिक्षा देने का दावा नहीं किया। और करे भी कैसे? हिंसा सिखानी नहीं पड़ती। पशु के नाते मनुष्य हिंसक है और आत्मा के रूप में अहिंसक है। जब मनुष्य को आत्मा का भान हो जाता है, तब वह हिंसक रह ही नहीं सकता। या तो वह अहिंसा की ओर वढ़ता है या अपने विनाश की ओर दौड़ता है। यही कारण है कि पैगम्बरों और अवतारों ने सत्य, मेलजोल, भाईचारा और न्याय आदि के पाठ पढ़ाए हैं। ये सब अहिंसा के गुण हैं।

यदि हमारा यह विश्वास हो कि मानव-जाति ने अहिंसा की दिशा में बराबर प्रगति की है, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि उसे उस तरफ़ और भी ज़्यादा बढ़ना है। इस संसार में स्थिर कुछ भी नहीं है, सब कुछ गतिशील है। यदि आगे बढ़ना नहीं होगा, तो अनिवार्य रूप में पीछे हटना होगा।

हरिजन, ११-८-१९४०

३. ब्रह्मचर्य

अब ब्रह्मचर्य की व्याख्या को—उसके अर्थ को लें। उसका घात्वर्थ यों किया जा सकता है: वह आचरण जिससे ईश्वर के साथ सम्पर्क स्थापित होता हो।

यह आचरण है सब इन्द्रियों पर संपूर्ण नियंत्रण। इस शब्द का यही सच्चा और ठीक अर्थ है।

आम तौर पर इसका अर्थ जननेन्द्रिय पर केवल शारीरिक नियंत्रण किया जाता है। इस संकुचित अर्थ से ब्रह्मचर्य की अधोगति हुई है और उसका पालन लगभग असंभव बन गया है। सारी इन्द्रियों पर ठीक काबू हुए बिना जननेन्द्रिय पर काबू पाना असंभव है। वे सब एक-दूसरे पर निर्भर है। निम्न स्तर पर मन भी इन्द्रियों में शामिल है। मन पर काबू पाये बिना निरा शारीरिक नियंत्रण थोड़ी देर के लिए हो भी सकता हो, तो उसका बहुत थोड़ा या कुछ भी उपयोग नहीं है।

हरिजन १३-६-१९३६

अस्वाद-व्रत का ब्रह्मचर्य पालन के साथ बड़ा गहरा संबंध है। मैंने अनुभव से पाया है कि यदि स्वाद पर काबू पा लिया जाएँ, तो ब्रह्मचर्य का पालन बहुत आसान हो जाता है।

मंगल-प्रभात, १९४५; पृ॰ १५

अगर कोई पुरुष एक स्त्री को या कोई स्त्री एक पुरुष को अपना प्रेम प्रदान कर देती है, तो फिर बाहर की दुनिया के लिए और रह ही क्या जाता है? इसका सीधा-सा अर्थ यह है, "हम दो पहले और दूसरे सब बादमें ।" चूँकि पतिव्रता पत्नी को अपने पति के लिए सर्वस्व बलिदान करने को तैयार रहना ही चाहिए और एक पत्नीव्रती पति को अपनी पत्नी के खातिर सब कुछ त्याग करने को तैयार रहना ही चाहिए, इसलिए स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्ति विश्व प्रेम की ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकते या समस्त मानव-जाति को अपना परिवार नहीं समझ सकते। क्योंकि वे अपने प्रेम के चारों ओर एक दीवार खड़ी कर देते हैं। उनका परिवार जितना बड़ा होगा उतने ही वे

विश्वप्रेम से दूर रहेंगे। इसलिए जिसे अहिंसा-धर्म का पालन करना है, वह विवाह नहीं कर सकता। फिर विवाह-बंधन के बाहर विषय-भोग की बात तो कर ही कैसे सकता है?

तो फिर जो विवाह कर चुके हैं उनका क्या हो? क्या वे सत्य के दर्शन कभी नहीं कर सकेंगे? क्या वे मानवता की बेदी पर कभी सर्वस्व का बलिदान नहीं कर सकते? उनके लिए भी एक मार्ग है। वे ऐसा व्यवहार करें मानो उनका विवाह हुआ ही नहीं। जिन लोगों ने यह सुखद अवस्था भोगी है, वे इसकी गवाही दे सकेंगे। मेरी जानकारी में अनेकों ने सफलतापूर्वक यह प्रयोग किया है। यदि दम्पती एक-दूसरे को भाई-बहन समझ लें, तो वे विश्वसेवा के लिए मुक्त हो जाते हैं। संसार की सारी स्त्रियाँ मेरी बहनें। माताएँ या पुत्रियाँ हैं—यह विचार ही मनुष्य को तुरंत उदात्त बनाकर उसके बंधन तोड़ डालेगा। इसमें पति-पत्नी कुछ भी नहीं खोते; इससे उनकी पूँजी और उनका परिवार बढ़ता ही है। उनका प्रेम वासना की अपवित्रता से मुक्त होकर और भी प्रबल बन जाता है।

मंगल-प्रभात, १९४५; पृ॰ १०-११

४. अभय

अन्य उच्च गुणों के विकास के लिए अभय अनिवार्य है । निर्भयता के बगैर कोई सत्य की खोज़ कैसे कर सकता है? या प्रेम कैसे कर सकता है? जैसे प्रीतम कहता है, 'हरिका मार्ग वीरों का मार्ग है, कायरों का नहीं।' हरि का अर्थ यहाँ सत्य है और वीर वे हैं जिनके पास निर्भयता का शस्त्र है।

मंगल-प्रभात, १९४५; पृ॰ २७

५. अस्तेय

यह असंभव है कि कोई मनुष्य चोरी भी करे और साथ-साथ सत्य को जानने या प्रेमधर्म को पालने का दावा भी करे। फिर भी हम सब जाने या अनजाने थोडे-बहुत चोरी के अपराधी हैं। यह समझकर कोई चीज़ ले लेना कि वह किसी की संपत्ति नहीं है चोरी है। सड़क पर पड़ी हुई वस्तुएँ राजा की है या स्थानीय सत्ता की।

दूसरे से कोई चीज़ उसकी इजाजत से लेना भी चोरी है, अगर हमें दरअसल उसकी ज़रूरत न हो। इस प्रकार की चोरी का विषय आम तौर पर खुराक होता है। किसी फल की मुझे ज़रूरत न हो तो उसका खाना या आवश्यकता से अधिक मात्रा में खाना मेरे लिए चोरी है। हमें सदा अपनी वास्तविक ज़रूरतों का पता नहीं होता और हम में से अधिकांश अपनी ज़रूरतें बेजा तौर पर बढ़ा लेते हैं और इस प्रकार से अज्ञात रूप में चोर बन जाते हैं। अगर हम इस विषय पर कुछ विचार करें, तो हमें पता चलेगा कि हम अपनी बहुत सी ज़रूरतें कम कर सकते हैं। अस्तेय-व्रत का पालन करने वाला धीरे-धीरे अपनी आवश्यकताएँ घटा लेगा। इस संसार का अधिकांश दुःखदायी दारिद्रय अस्तेय-सिद्धांत के भंग से पैदा हुआ है।

जो अस्तेय-सिद्धांत का पालन करता है, वह भविष्य में प्राप्त की जाने वाली वस्तुओं की चिंता नहीं करेगा। बहुत सी चोरियों की जड़ में भविष्य की यह दुश्चिन्ता ही पाई जाएँगी। आज हमें किसी वस्तु की केवल प्राप्ति की इच्छा होती है; कल हम उसकी प्राप्ति के लिए संभव हो तो अच्छे और आवश्यक हो तो बुरे उपाय भी काम में लेने लगते हैं।

भौतिक पदार्थों की तरह ही विचार भी चुराये जा सकते हैं। जो अहंकारपूर्वक किसी अच्छे विचार का प्रवर्तक होने का दावा करता है, लेकिन असल में उस विचार को जन्म देने वाला नहीं होता, वह विचारों की चोरी का दोषी है।

इसलिए जो अस्तेय-व्रत धारण करता है, उसे नम्र, विचारशील, जागरूक और सादी आदतों वाला बनना चाहिए।

मंगल-प्रभात, १९४५; पृ॰ १९-२२.

६. अपरिग्रह

अपरिग्रह का अस्तेय के साथ चोली-दामन का संबंध है। कोई चीज़ वास्तव में चुराई न गई हो तो भी अगर हम आवश्यकता के बिना उसका संग्रह करते हैं, तो वह चोरी का माल समझा जाना चाहिए। परिग्रह का अर्थ है भविष्य के लिए संग्रह करना। सत्य-शोधक, प्रेमधर्म का पालन करने वाला कल के लिए कोई चीज़ संग्रह करके नहीं रख सकता। ईश्वर परिग्रह नहीं करता । वह जिस समय जितनी चीज़ की ज़रुरत है, उससे अधिक कभी उत्पन्न नहीं करता। इसलिए यदि हमें उसकी दया पर भरोसा है, तो हमें निश्चिन्त रहना चाहिए कि वह नित्य हमें खाने को देगा अर्थात् हमारी सब ज़रूरतें पूरी करेगा । संतो और भक्तों की, जिन्हों ने ऐसा श्रद्धापूर्ण जीवन बिताया है, यह श्रद्धा सदा उनके अनुभव से सही साबित हुई है। जिस ईश्वरीय कानून से मनुष्य को नित्य आजीविका प्राप्त होती है, लेकिन उससे अधिक कुछ नहीं मिलता, उसके अज्ञान या उपेक्षा के कारण दुनिया में असमानताएँ और उनके साथ लगी हुई तमाम विपत्तियाँ उत्पन्न हुई हैं। धनवानों के पास तो जिन चीज़ों की उन्हें ज़रुरत नहीं है उनका फालतू भंडार भरा होता है। इस कारण उनकी परवाह नहीं की जाती और वे बरबाद होती हैं। दूसरी तरफ़ लाखों लोग जीविका के अभाव में भूख से मर जाते हैं। यदि हरएक अपनी ज़रूरत की चीज़ें ही रखे, तो किसी को कमी नहीं रहेगी और सब संतोषपूर्वक जीवन बिता सकेंगे। वर्तमान स्थिति में तो अमीर-गरीब सभी समान रूप से असंतुष्ट हैं। गरीब आदमी लखपति बनना चाहता है और लखपति करोड़पति। सर्वत्र संतोष की भावना फैलने की दृष्टि से अमीरों को परिग्रह छोड़ने में पहल करनी चाहिए। यदि वे अपनी निज़ी संपत्ति को साधारण मर्यादा में रखें, तो भूखों को आसानी से खाने को मिल जाएँ और वे धनवानों के साथ-साथ संतोष का पाठ सीख जाएँ।

शुद्ध सत्य की दृष्टि से शरीर भी एक परिग्रह है। इस प्रकार हम संपूर्ण त्याग के आदर्श तक पहुँच जाते है और जब तक शरीर है तब तक उसे सेवा के लिए ही काम में लेना सीखते हैं—यहाँ तक कि रोटी नहीं, बल्कि सेवा ही हमारे जीवन की सच्ची खुराक बन जाती है । इस प्रकार की मनोवृत्ति हमें सच्चा सुख प्रदान करती है।

मंगल-प्रभात १९४५; पृ॰ २३-२५

हमारी रोजमर्रा की ज़रुरत के लिए प्रकृति काफ़ी उत्पन्न करती है; और यदि प्रत्येक मनुष्य अपने लिए आवश्यकता से ज़्यादा न ले, तो इस संसार में न तो दारिद्रय रहे और न कोई भूख से मरे। लेकिन जब तक हम में यह असमानता है, तब तक हम चोरी ही करते हैं। मैं समाजवादी नहीं हूँ और जिनके पास संपत्ति है उनसे मैं संपत्ति छीनना नहीं चाहता। परंतु मैं यह ज़रूर कहता हूँ कि हम में से जो लोग व्यक्तिगत रूप में अंधकार में से प्रकाश की ओर जाना चाहते हैं उन्हें यह नियम पालना पड़ेगा । मैं किसी की संपत्ति छिनना नहीं चाहता। ऐसा करूँ तो मैं अहिंसा के नियम से विचलित हो जाऊँगा। यदि किसीके पास मुझसे अधिक परिग्रह है तो भले रहे। परंतु जहाँ तक मेरी अपनी ज़िंदगी को नियमित बनाने का सवाल है, मैं ज़रूर कहता हूँ कि जिस चीज़ की मुझे ज़रुरत नहीं है उसे रखने का मुझे साहस नहीं होगा। भारत वर्ष में हमारे यहाँ तीस लाख आदमी ऐसे हैं, जिन्हें एक जून खाकर संतोष करना पड़ता है और उस खाने में सिर्फ एक सुखी रोटी और चिमटी भर नमक ही होता है। आपको और मुझे वास्तव में अपने पास की किसी वस्तु को रखने का तब तक अधिकार नहीं है, जब तक इन तीस लाख व्यक्तियों को अधिक अच्छा अन्न-वस्त्र न मिलने लगे । आपको और मुझे, जिन्हें अधिक ज्ञान है, अपनी ज़रूरतें नियमित करनी चाहिए और स्वेच्छापूर्वक भूखे भी रहना चाहिए, ताकि इस लोगों की सेवा-शुश्रूषा, भोजन और वस्त्र की व्यवस्था हो सके ।

स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्प ऑफ महात्मा गांधी, चतुर्थ संस्करण; पृ॰ ३८४

७. खानपान में संयम

नशीले पदार्थों और सभी प्रकार के खाद्यों, विशेषत: माँस का सेवन न करने से बेशक आत्मा के विकास में बड़ी सहायता मिलती है। परंतु यह स्वयं कोई साध्य नहीं है। बहुत से लोग, जो माँस का सेवन करते हैं और सबके साथ खाते-पीते हैं, परंतु ईश्वर से डर कर रहते हैं, उस मनुष्य की अपेक्षा अपने मोक्ष के ज़्यादा निकट हैं जो माँस और कई दूसरी चीज़ों का धर्मभाव से परहेज तो रखता है, परंतु अपने प्रत्येक कर्म द्वारा ईश्वर का तिरस्कार करता है।

यंग इंडिया, ६-१०-१९२१

मैं यह ज़रूर महसूस करता हूँ कि किसी मंजिल पर आध्यात्मिक प्रगति का यह तकाजा अवश्य होता है कि हम अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने साथ रहने वाले प्राणियों की हत्या बंद कर दें। जब में आपसे अपनी शाकाहारी सनक का जिक्र करता हूँ, तो मुझे गोल्डस्मिथ की सुंदर पंक्तियाँ याद आती हैं, जिनका भावार्थ है:

> जो पशुसमूह घाटी में स्वतंत्र विचरण करते हैं, उन्हें में हत्या का दंड नहीं देता; क्योंकि जो सत्ता मुझ पर दया करती है, उससे शिक्षा लेकर मैं इन पर दया करता हूँ।

इंडियाज़ केस फोर स्वराज, १९३२; पृ॰ ४०२

अनुभव यह सिखाता है कि माँसाहार उन लोगों के लिए अनुकूल नहीं है, जो अपने विचारों का दमन करना चाहते हैं। परंतु चरित्र-निर्माण या इन्द्रिय-जय में भोजन को अत्यधिक महत्त्व देना भी भूल है। आहार एक ऐसा प्रबल तत्त्व है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। परंतु सारे धर्म का निचोड़ भोजन में ही मान बैठना, जैसा भारत में अकसर किया जाता है, उतना ही गलत है जितना भोजन-संबंधी सारे संयम की उपेक्षा करना और मनभाता खाना-पीना है।

यंग इन्डिया, ७-१०-१९२६

अहिंसा केवल खाद्याखाद्य का ही विषय नहीं; यह उससे परे है। मनुष्य क्या खाता पीता है, इसका बहुत थोड़ा महत्त्व है । महत्त्व उसके पीछे रहने वाले आत्मत्याग और आत्म-संयम का

है। खाद्य पदार्थों के चुनाव में जितना भी संयम रखना हो ज़रूर रखें। यह संयम प्रशंसनीय है, ज़रूरी भी है। परंतु इसमें अहिंसा नाममात्र की है। मनुष्य भोजन के मामले में काफ़ी छूट रखकर भी अहिंसा की जीती-जागती मूर्ति हो सकता है और हमारे आदर का पात्र बन सकता है, यदि उसका हृदय प्रेम से उमड़ता हो, दूसरे के दुःख से द्रवित होता हो और रागद्वेषादि विकारों से मुक्त हो गया हो। इसके विपरीत, वह मनुष्य खानपान में ज़रूरत से ज़्यादा सावधान रहते हुए भी अहिंसा से सर्वथा अपरिचित है और दयनीय प्राणी है, जो स्वार्थ और विकारों का दास है और कठोर-हृदय है।

यंग इन्डिया, ६-९-१९२८

यद्यपि गांधीजी का यह आग्रह है कि ग्रामसेवक ग्रामीणों के भोजन पर गुजर करे और उसका तीन आने रोज से ज़्यादा खर्च न हो, पर उनका यह आग्रह कदापि नहीं है कि ग्रामसेवक भूखों मरे या अपनी देह का व्यर्थ दमन करे। एक कार्यकर्ता ने दिन में केवल एक बार खाने का कठोर व्रत ले लिया है। उसके भोजन में १५ तोला उबले हुए चावल, आमटी और छाछ रहती है और उसका खर्च केवल एक आना रोज पड़ता है। गांधीजीने उसे लिखा:

> तुम्हारा खाना बहुत कम है। यह भूखों मारने वाला भोजन है। मेरी राय में तुम शरीररूपी यंत्र का, जो ईश्वर ने तुम्हारे सुपुर्द किया है, पूरा उपयोग नहीं कर रहे हो। क्या तुम्हें बाइबल की सिक्कों वाली कहानी मालूम है, जिसमें उस मनुष्य से सिक्के वापस ले लिए गए थे, जो उनका उपयोग नहीं जानता था, या जानते हुए भी उन्हें काम में नहीं लेता था? देह का दमन तब आवश्यक है जब वह हमारी आत्मा के विरुद्ध विद्रोह करे। किन्तु जब वह हमारे वश में आ जाएँ और सेवा के साधन के रूप में उसका उपयोग किया जा सके तब उसका दमन करना पाप है। दूसरे शब्दों में कहें तो देह-दमन में स्वयं नैसर्गिक गुण नहीं है।

हरिजन २-११-१९३५

८. वैराग्य और आत्मत्याग

वैराग्य का यह अर्थ नहीं कि संसार को छोड़कर जंगल में रहने लग जाएँ। वैराग्य की भावना जीवन की समस्त प्रवृत्तियों में व्याप्त होनी चाहिए। कोई गृहस्थ यदि जीवन को भोग न समझकर कर्तव्य समझता है, तो वह गृहस्थ मिट नहीं जाता। जो व्यापारी अपना काम त्याग की भावना से करता है, उसके हाथों से भले ही करोड़ों रुपये का लेनदेन होता हो, फिर भी वह यदि अपने धर्म का पालन करता हो, तो अपनी योग्यता का उपयोग सेवा के लिए करेगा। इसलिए वह किसी को धोखा नहीं देगा, सट्टा नहीं करेगा, सादा जीवन व्यतीत करेगा, किसी प्राणी को दुःख नहीं पहुँचाएगा और लाखों रुपये खो देगा मगर किसीको हानि नहीं पहुँचाएगा।

त्यागमय जीवन कला का उत्तम प्रतीक और सच्चे आनंद से परिपूर्ण होता है। जो सेवा करना चाहता है, वह अपने आराम का विचार करने में एक क्षण भी व्यर्थ खर्च नहीं करेगा। क्योंकि उसे वह प्रभु की इच्छा पर छोड़ देता है। इसलिए वह जो कुछ हाथ लग जाएँ उसी को बटोर कर अपना बोझ नहीं बढ़ायेगा; सिर्फ उतना ही लेगा जितने की उसे सख्त ज़रूरत है, और बाकी छोड़ देगा। असुविधा होने पर भी वह मन में शांत, क्रोध रहित और अविचलित रहेगा। सद्गुण की भाँति उसकी सेवा ही उसका पुरस्कार होगा और वह उसीसे संतुष्ट रहेगा।

दूसरों की स्वेच्छापूर्वक सेवा में हमारी शक्तियाँ लगनी चाहिए और उसे अपनी सेवा से तरजीह मिलनी चाहिए। असल में शुद्ध भक्त अपने लिए कुछ भी न रखकर अपने को मानव-सेवा में समर्पित कर देता है।

मंगल-प्रभात १९४५; पृ॰ ५७-६०

अपने त्याग पर हमें कोई दुःख अनुभव नहीं होना चाहिए। जिस त्याग से पीड़ा होती है, उसकी पवित्रता नष्ट हो जाती है और अधिक जोर पड़ने पर वह खतम हो जाता है। मनुष्य उन वस्तुओं का त्याग करता है, जिन्हें वह हानिकारक मानता है; इसलिए त्याग करने से उसे सुख होना चाहिए।

यंग इन्डिया, १४-७-१९२६

९. शरीर-श्रम

शरीर-श्रम मनुष्य मात्र के लिए अनिवार्य है, यह बात पहले-पहल टोल्स्टोय के एक निबंध से मेरे गले उतरी। इतने स्पष्ट रूप से इस बात को जानने से पहले रस्किन का 'अन्टु दिस लास्ट' पढ़कर मैं फौरन ही उस पर अमल करने लगा था। शरीर-श्रम अंग्रेजी शब्द 'ब्रेड लेबर' का अनुवाद है। 'ब्रेड लेबर' का शब्दशः अनुवाद है 'रोटी (के लिए) श्रम'। रोटी के लिए हर आदमी को श्रम करना, हाथ-पैर हिलाना चाहिए, यह ईश्वरीय नियम है। यह मूल खोज़ टोल्स्टोय की नहीं, पर उसकी अपेक्षा बहुत कम परिचित रूसी लेखक बोन्दरेव्ह की है। टोल्स्टोय ने इसे प्रसिद्धि दी और अपनाया। इसकी झलक मुझे भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में देखने को मिलती है। यज्ञ किए बिना खाने वाला चोरी का अन्न खाता है, यह कठोर शाप अयज्ञ के लिए दिया गया है। यहाँ यज्ञ का अर्थ शरीर-श्रम या रोटी-श्रम ही अच्छा लगता है, और मेरी राय में निकल भी सकता है। जो भी हो, हमारे इस व्रत की यह उत्पत्ति है। बुद्धि भी इस वस्तु की ओर हमें ले जाती है। शरीर-श्रम न करने वाले को खाने का क्या अधिकार हो सकता है? बाइबल कहती है, "अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना।" करोड़पति भी अपने पलंग पर लोटता रहे और मुँह में किसी के खाना डाल देने पर खाये, तो वह बहुत दिनों तक न खा सकेगा। उसमें उसके लिए आनंद भी न रह जाएँगा। इसलिए वह कसरत वगैरा करके भूख उत्पन्न करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुँह हिलाकर। तो फिर वह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि यदि इस तरह राजा-रंक सभी को किसी न किसी रूप में व्यायाम करना ही पड़ता है, तो रोटी पैदा करने की ही कसरत सब लोग क्यों न करें? किसान से हवा खाने या कसरत करने को कोई नहीं कहता। और संसार के ९० प्रतिशत से भी अधिक मनुष्यों का निर्वाह खेती से होता है। शेष १० प्रतिशत मनुष्य इनका अनुकरण करें, तो संसार में सुख, शांति और आरोग्य कितना बढ़ जाएँ? यदि खेती के साथ बुद्धि का मेल हो जाय, तो खेती के काम में आने वाली अनेक कठिनाइयाँ सहज में दूर हो जाएँ। इसके सिवा शरीर-श्रम के इस निरपवाद नियम को सभी यदि मानने लगें, तो ऊँच-नीच का भेद दूर हो जाय। इस समय तो जहाँ ऊँच-नीच की गंध भी न थी, वहाँ भी अर्थात् वर्ण-व्यवस्था में भी वह घुस गई है। मालिक-मज़दूर का भेद सर्वव्यापक हो गया है और गरीब अमीर से ईर्षा करने लग

गया है। यदि सब अपनी रोटी के लिए मेहनत करें, तो ऊँच-नीच का भेद दूर हो जाएँ । और फिर जो धनी वर्ग रह जाएँगा, वह अपने को मालिक न मानकर उस धन का केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा और उसका उपयोग मुख्यतः लोकसेवा के लिए करेगा। जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है, ब्रह्मचर्य-पालन को स्वाभाविक बनाना है, उसके लिए तो शरीर-श्रम रामबाणरूप हो जाता है। यह श्रम वास्तव में देखा जाएँ तो खेती से ही संबंध रखता है। पर आज की जो स्थिति है उसमें सब उसे नहीं कर सकते । इसलिए खेती का आदर्श ध्यान में रखकर आदमी बदले में दूसरा श्रम जैसा कताई, बुनाई, बढ़ईगिरी, लुहारी इत्यादि कर सकता है । सबको अपना अपना भंगी तो होना ही चाहिए। जो खाता है उसे मलत्याग करना पड़ता है। मलत्याग करने वाला ही अपने मल को गाड़े, यह इस विषय में सबसे अच्छी बात है। यह न हो सके तो समस्त परिवार मिलकर इस विषय में अपना कर्तव्य पालन करे। मुझे तो वर्षों से ऐसा मालूम होता रहा है कि जहाँ भंगी का अलग धंधा माना गया है, वहाँ कोई महादोष घुस गया है। इसका इतिहास हमारे पास नहीं है कि इस आरोग्यवर्धक कार्य को किसने पहले नीच से नीच ठहराया। ठहराने वाले ने हम पर उपकार तो नहीं ही किया। हम सब भंगी है, यह भावना हमारे दिल में बचपन से दृढ़ हो जानी चाहिए और इसे करने का सहज से सहज उपाय यह है कि जो समझे हों वे शरीर-अम का आरंभ पाखाना-सफ़ाई से करें। जो ज्ञानपूर्वक ऐसा करेगा वह उसी क्षण से धर्म को आज से भिन्न और सच्चे रूप में समझने लगेगा। बालक, वृद्ध और रोग से अपंग बने हुए यदि परिश्रम न करें, तो उसे कोई अपवाद न माने। बालक का समावेश माता में हो जाता है। यदि प्राकृतिक नियम का भंग न हो, तो बूढ़े अपंग न होंगे और रोग तो भला हो ही कैसे सकता है?

मंगल-प्रभात, १९४५; पृ॰ ३५-३७

यज्ञ कई प्रकार के हो सकते हैं। उनमें से एक शरीर-श्रम भी हो सकता है। यदि सब अपने ही श्रम की रोटी खायें, तो सबके लिए पर्याप्त भोजन और पर्याप्त अवकाश उपलब्ध हो जाएँगा। तब न तो अत्यधिक आबादी की चिल्लाहट मचेगी, न कोई रोग फैलेगा और न हम आज चारों ओर देखते हैं वैसी कोई विपत्ति सतावेगी। ऐसा श्रम ऊँचे से ऊँचे प्रकार का यज्ञ होगा। बेशक,

लोग अपने शरीर से बुद्धि से अन्य बहुत सी बातें करेंगे, परंतु वह सारा परिश्रम लोक-कल्याण के प्रेम से करेंगें। तब कोई अमीर-गरीब नहीं होगा, कोई ऊँच-नीच नहीं होगा और कोई छूत-अछूत नहीं रहेगा।

यह आदर्श अप्राप्य हो सकता है। परंतु इस कारण हमें इसके लिए अपनी कोशिश छोड़ देने की ज़रूरत नहीं। यदि यज्ञ के संपूर्ण नियम का अर्थात् हमारे जीवन-नियम का पालन किये बिना हम अपनी जीविका के लिए भी काफ़ी शरीर-श्रम कर लें, तो हम उस आदर्श की दिशा में बहुत आगे बढ़ जाएँगे।

यदि हम ऐसा करेंगे तो हमारी आवश्यकताएँ कम से कम रह जाएगी और हमारा भोजन सादा होगा। तब हम जीने के लिए खायेंगे, खाने के लिए नहीं जियेंगें। इस कथन के ठीक होने में जिस किसी को संदेह हो, वह अपनी रोटी के लिए पसीना बहाकर देख ले; उसे अपनी मेहनत से पैदा की हुई रोटी में कुछ और ही मजा आयेगा, उसका स्वास्थ्य सुधर जाएँगा और उसे पता लग जाएँगा कि जो बहुत सी विलास की चीजें उसने अपने पर लाद रखी थीं वे बिलकुल बेकार थीं।

कया मनुष्य अपने बौद्धिक श्रम से अपनी आजीविका नहीं कमा सकते? नहीं। शरीर की आवश्यकताएँ शरीर द्वारा ही पूरी होनी चाहिए।

केवल मानसिक और बौद्धिक श्रम आत्मा के लिए और स्वयं अपने ही संतोष के लिए है। उसका पुरस्कार कभी नहीं माँगा जाना चाहिए। आदर्श राज्य में डॉक्टर, वकील और ऐसे ही दूसरे लोग केवल समाज के लाभ के लिए काम करेंगे; अपने लिए नहीं। शारीरिक श्रम के धर्म का पालन करने से समाज की रचना में एक शांत क्रांति हो जाएँगी। मनुष्य की विजय इसमें होगी कि उसने जीवन-संग्राम के बजाय परस्पर सेवा के संग्राम की स्थापना कर दी। पशुधर्म के स्थान पर मानव-धर्म कायम हो जाएगा।

देहात में लौट जाने का अर्थ यह है कि शरीर-श्रम के धर्म को उसके तमाम अंगों के साथ हम निश्चित रूप में स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करते हैं। परंतु आलोचक कहते हैं, 'भारत की करोड़ों संतानें आज भी देहात में रहती हैं, फिर भी उन्हें पेटभर भोजन नसीब नहीं होता।' अफसोस के

साथ कहना पड़ता है कि यह बिलकुल सच बात है। सौभाग्य से हम जानते है कि उनका शरीर-श्रम के धर्म का पालन स्वेच्छापूर्ण नहीं है। उनका बस चले तो वे शरीर-श्रम कभी नहीं करें और नज़दीक के शहर में कोई व्यवस्था हो जाएँ तो वहाँ दौड़ कर चले जाएँ । मज़बूर होकर किसी मालिक की आज्ञा पालना गुलामी की स्थिति है, स्वेच्छा से अपने पिता की आज्ञा मानना पुत्र का गौरव है। इसी प्रकार शरीर-श्रम के नियम का विवश होकर पालन करने से दरिद्रता, रोग और असंतोष उत्पन्न होते हैं । यह दासत्व की दशा है। शरीर-श्रम के नियम का स्वेच्छापूर्वक पालन करने से संतोष और स्वास्थ्य मिलता है। और तंदुरस्ती ही असली दौलत है, न कि सोने-चाँदी के टुकड़े। ग्रामोद्योग-संघ स्वेच्छापूर्ण शरीर-श्रम का ही एक प्रयोग है।

हरिजन, २९-६-१९३५

प्र॰—हमारा यह आग्रह क्यों होना चाहिए कि कोई रवीन्द्रनाथ या रमण शरीर-श्रम द्वारा ही अपनी रोटी कमाएँ? क्या यह उनकी बौद्धिक शक्ति की निरी बरबादी नहीं है? दिमागी काम करने वालों को शरीर-श्रम करने वालों के बराबर ही क्यों न समझा जाएँ, जब दोनों ही समाज का उपयोगी काम करते हैं?

उ॰—बौद्धिक कार्य महत्त्वपूर्ण है और जीवन की योजना में उसका निश्चित स्थान है। परंतु मेरा आग्रह शरीर-श्रम की आवश्यकता पर है। मेरा दावा है कि किसी भी मनुष्य को इस दायित्व से मुक्त नहीं होना चाहिए। इससे उसके बौद्धिक कार्य की श्रेष्ठता बढ़ जाएँगी।

हरिजन, २३-२-१९४७

१०. स्वदेशी

स्वदेशी का उपासक अपने निकट के पड़ोसियों की सेवा को प्रथम कर्तव्य मानकर उसमें अपने को समर्पित कर देगा । इसमें बाकी के लोगों के हितों को छोड़ने या कुर्बान करने की भी नौबत आ सकती है, परंतु यह छोड़ने या कुबनी करने की बात केवल आभासमात्र होगी। अपने पड़ोसियों की शुद्ध सेवा चीज़ ही ऐसी है कि उससे दूर वालों की कुसेवा हरगिज नहीं हो सकती, बल्कि सेवा ही होती है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' एक अचूक सिद्धांत है, जिसे हमें हृदय पर अंकित कर लेना चाहिए। इसके विपरीत, जो मनुष्य दूर के लोगों की सेवा के लालच में फँसकर पृथ्वी के उस छोर तक सेवा के लिए दौड़ता है, वह न केवल अपनी महत्त्वाकांक्षा में विफल होता है, परंतु पड़ोसियों के प्रति अपने कर्तव्य में भी चूकता है। एक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिए। जिस विशेष स्थान में मैं रहता हूँ वहाँ कुछ लोग मेरे पड़ोसी, कुछ रिश्तेदार और कुछ आश्रित हैं। उनका यह महसूस करना, और यह उनका हक है, स्वाभाविक है कि उनका मुझ पर कोई अधिकार है, और वे सहायता व सहारे के लिए मेरी ओर देखते हैं। अब मान लीजिए कि मैं उन्हें अचानक छोड़ कर किसी दूर की जगह के लोगों की सेवा के लिए चला जाता हूँ। मेरे निश्चय से पड़ोसियों और आश्रितों की मेरी छोटी-सी दुनिया अस्तव्यस्त हो जाएँगी और बहुत संभव है कि मेरे इस दूर की सेवा के मोह से नये स्थान का वातावरण अशांत हो जाएँ। इस प्रकार अपने पास के पड़ोसियों की दोषपूर्ण उपेक्षा और जिनकी सेवा मैं करना चाहता हूँ उनकी अनचाही कुसेवा स्वदेशी के सिद्धांत के मेरे भंग के पहले परिणाम होंगे। इसीसे 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' वचन कहा गया है। इसका अर्थ ज़रूर ऐसा किया जा सकता है: 'स्वदेशी का पालन करते हुए मृत्यु भी हो जाएँ तो अच्छा है; परदेशी तो भयानक है ही।' यहाँ स्वधर्म का अर्थ है स्वदेशी।

हानि तभी होती है जब स्वदेशी के सिद्धांत का गलत अर्थ समझ लिया जाता है। मसलन्, यह स्वदेशी के सिद्धांत का विपर्यास होगा कि मैं अपने परिवार का मोह रखकर उसका लाड़ लड़ाने के लिए भले-बुरे सभी उपायों से रुपया बटोरने में लग जाऊँ। स्वदेशी धर्म का तकाजा है कि मैं न्यायपूर्ण साधनों द्वारा अपने परिवार के प्रति केवल अपने उचित फ़र्ज अदा करूँ । इससे

मुझे सर्वव्यापक धर्म का पता लगा जाएँगा। स्वदेशी के अमल से कभी किसी की हानि नहीं हो सकती; और अगर होती है तो मेरा माना हुआ धर्म स्वधर्म नहीं बल्कि अहंकार है। इसलिए वह त्याज्य है।

ऐसे अवसर आ सकते है जब स्वदेशी के भक्त को सबकी सेवा के लिए अपने परिवार का बलिदान करने की ज़रूरत हो जाए। उस समय स्वेच्छा से किए जाने वाले आत्मोत्सर्ग का यह कार्य परिवार की उच्चतम सेवा होगी। यह हो सकता है कि जिस तरह हम अपने को खोकर अपनी रक्षा कर सकते हैं, उसी तरह कुटुम्ब को खोकर कुटुम्ब की रक्षा कर सकें। दूसरा दृष्टांत लें। मान लीजिए कि मेरे गाँव में प्लेग फैल जाता है और इस महामारी के शिकारों को बचाने के प्रयत्न में मैं, मेरी पत्नी, बच्चे और घर के और सब लोग फना हो जाते है; तब ऐसा नहीं कहा जाएँगा कि अपने प्रियतम और निकटतम लोगों को अपने साथ आने के लिए राजी करके मैंने अपने परिवार के नाश का काम किया, बल्कि यह कहा जाएँगा कि मैंने उसके सच्चे हितैषी का काम किया। स्वदेशी में स्वार्थ की गुंजाइश नहीं है; और यदि उसमें कोई स्वार्थ हो तो वह सर्वोच्च प्रकार का है, जो उच्चतम परोपकार से भिन्न नहीं है। स्वदेशी अपने शुद्धतम रूप में परमार्थ की पराकाष्टा है।

इस तर्कप्रणाली पर चलने से ही मुझे यह सूझा कि स्वदेशी के सिद्धांत को समाज पर लागू करने का आवश्यक और सबसे महत्त्वपूर्ण परिणाम खादी है । मैंने अपने मनसे पुछा कि 'वह कौनसी सेवा है जिसकी इस समय भारत के करोड़ों लोगों को ज़रुरत है, जिसे सब लोग आसानी से समझकर उसकी कद्र कर सकते हैं, जो आसानी से की जा सकती है और जो हमारे करोड़ों अधभूखे देशवासियों को जिन्दा रख सकती है?' उत्तर मिला: केवल खादी या चरखे को सर्वव्यापी बनाने से ये शर्तें पूरी की जा सकती हैं।

कोई यह न समझ ले कि खादी द्वारा स्वदेशी के पालन से विदेशी या भारतीय मिल-मालिकों को नुकसान पहुँचेगा। किसी चोर से उसकी चोरी छुड़वा दी जाएँ या चुराया हुआ माल वापस करवा दिया जाएँ, तो इससे उसको हानि नहीं बल्कि लाभ होता है। इसी प्रकार यदि संसार के सारे अफीमचियों और शराबियों को अपनी बुरी लत छोड़ देनी पड़े, तो अफीम या शराब के

दुकानदार घाटे में नहीं रहेंगे। सच्चे अर्थ में वे फायदे में ही रहेंगे। पाप की कमाई उठ जाने से संबंधित व्यक्ति या समाज को कभी नुकसान नहीं होता; वह तो शुद्ध लाभ है।

यह मान लेना सबसे बड़ा भ्रम है कि केवल थोड़ा-सा सूत कात लेने या उसकी बनी हुई खादी पहन लेने से स्वदेशी धर्म का पूरा पालन हो जाता है। समाज के प्रति स्वदेशी धर्म के पालन में खादी पहला अनिवार्य कदम है । परंतु हमें अकसर ऐसे लोग मिलते हैं जो खादी पहनते हैं, मगर और सब बातों में विलायती माल का छूट से उपयोग करते हैं। ऐसे आदमियों के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वे स्वदेशी का पालन करते हैं। वे केवल फैसन के पीछे चलते हैं। स्वदेशी का उपासक अपने चारों ओर की परिस्थिति का सावधानी से अध्ययन करेगा और स्थानीय माल दूसरी जगह की बनी हुई वस्तुओं से घटिया या महँगा होगा तो भी उसे तरजीह देकर, जहाँ कहीं संभव होगा, अपने पड़ोसियों की सहायता करने का प्रयत्न करेगा । वह स्थानीय चीज़ों के दोष दूर करने की कोशिश करेगा, परंतु दोषों के कारण उन्हें छोड़कर विदेशी वस्तुओं को नहीं अपनायेगा।

परंतु अन्य अच्छी चीज़ों की भाँति स्वदेशी का भी बिना सोचे-विचारे पालन किया जाएँ तो उससे नुकसान हो सकता है। इस खतरे से बचना चाहिए। विदेशी माल को सिर्फ विदेशी होने के कारण अस्वीकार करना और अपने देश में ऐसी चीज़ें तैयार करने में राष्ट्र का समय और धन बरबाद करना, जिन के लिए वहाँ अनुकूलता नहीं है, बहुत बड़ी मुर्खता और स्वदेशी की भावना का भंग है। स्वदेशी का सच्चा उपासक कभी विदेशियों के प्रति अपने मन में दुर्भाव नहीं रखेगा। वह संसार में किसी के प्रति भी वैरभाव नहीं रखेगा। स्वदेशी धर्म घृणा का धर्म नहीं है। वह निःस्वार्थ सेवा का सिद्धांत है, जिसकी जड़ शुद्धतम अहिंसा अर्थात् प्रेम में है।

(स्वदेशी पर ये विचार १९३० में यरवडा जेल में नहीं लिखे गए थे, परंतु गांधीजी की १९३१ में हुई रिहाई के बाद बाहर आकर लिखे गए थे।)

मंगल-प्रभात, १९४५; पृ॰ ६३-६७

स्वदेशी की व्यापक व्याख्या यह है कि विदेशी वस्तुओं को छोड़कर सारी वस्तुएँ देश की बनी हुई इस्तेमाल की जाएँ। देशी वस्तुओं का उपयोग देश के उद्योगों की रक्षा के लिए ज़रूरी है; खास तौर पर उन उद्योगों की रक्षा के लिए, जिन के बिना भारत दरिद्र हो जाएगा। इसलिए मेरी राय में जो स्वदेशी धर्म प्रत्येक विदेशी वस्तु का, भले ही वह कितनी ही उपकारक क्यों न हो और किसीको दरिद्र भी क्यों न बनाती हो, बहिष्कार करता है वह संकुचित स्वदेशी धर्म है।

यंग इंडिया, १७-६-१९२६

११. सब धर्मों के लिए आदर

दुनिया के विभिन्न धर्म एक ही स्थान पर पहुँचने के अलग-अलग रास्ते हैं । जहाँ तक हम एक ही उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचते हैं, हमारे भिन्न-भिन्न मार्ग अपनाने में क्या हर्ज है? वास्तव में जितने व्यक्ति हैं उतने ही धर्म हैं।

हिंद स्वराज्य, १९४६; पृ॰ ३५-३६

अहिंसा हमें सिखाती है कि हम दूसरों के धर्मों का वैसा ही आदर करें जैसा हम अपने धर्म का करते हैं। इस प्रकार हम अपने धर्म की अपूर्णता को स्वीकार करते हैं। कोई भी सत्यशोधक, जो प्रेम के कानून का अनुसरण करता है, तुरंत यह स्वीकार कर लेगा। यदि हमें सत्य का संपूर्ण दर्शन हो जाता, तो हम निरे शोधक न रहकर ईश्वर के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते; क्योंकि सत्य ईश्वर है। परंतु केवल शोधक होने के कारण हम अपनी खोज़ जारी रखते है और अपनी अपूर्णता का हमें भान रहता है। और अगर हम खुद अपूर्ण हैं, तो हमारी कल्पना का धर्म भी अवश्य अपूर्ण होना चाहिए। जैसे हमने ईश्वर का साक्षात्कार नहीं किया है, वैसे ही धर्म का संपूर्ण रूप में साक्षात्कार नहीं किया है। इस प्रकार हमारी कल्पना का धर्म अपूर्ण होने के कारण उसक सदा विकास होता रहता है और उसके अर्थ में परिवर्तन होता रहता है। सत्य की दिशा में, ईश्वर की दिशा में, प्रगति ऐसे विकास के कारण ही संभव है। और जब मनुष्य-कल्पित सभी धर्म अपूर्ण हैं, तो उनके बीच तुलनात्मक गुण-दोषों का प्रश्न ही नहीं उठता। सभी धर्मों में सत्य का दर्शन होता है, परंतु सब अपूर्ण हैं और सब में भूलें हो सकती हैं। दूसरे धर्मों का आदर करने में उनके दोषों के प्रति आँखें मूँदने की ज़रुरत नहीं । हमें स्वयं अपने धर्म के दोषों के प्रति खूब ज़ागरूक रहना चाहिए । लेकिन इस कारण उसे छोड़ नहीं देना चाहिए, बल्कि उन दोषों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । सब धर्मों के प्रति समभाव रखते हुए हम दूसरे धर्मों की लेने जैसी हर वस्तु को अपने धर्म में लेने में न केवल संकोच नहीं करेंगे, बल्कि उसे लेना अपना फर्ज समझेंगे।

जैसे हर वृक्ष का एक ही तना होते हुए भी बहुत सी डालियाँ और पत्तियाँ होती हैं, उसी प्रकार सच्चा और संपूर्ण धर्म एक ही है । परंतु जब वह मानवीय माध्यम से होकर गुजरता है, तब

उसके अनेक रूप बन जाते हैं। वह संपूर्ण धर्म वाणी से परे है। अपूर्ण मनुष्य अपनी-अपनी भाषा में उसे रखते हैं और उनके शब्दों का अर्थ दूसरे उतने ही अपूर्ण मनुष्य करते हैं। तब किसका अर्थ सही माना जाएँ! प्रत्येक मनुष्य अपने ही दृष्टिकोण से सही है, परंतु यह असंभव नहीं कि सभी गलत हों। इसलिए सहिष्णुता और समभाव की आवश्यकता है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि हम अपने धर्म के प्रति उदासीन हों, बल्कि उसके लिए अधिक ज्ञानपूर्ण और अधिक शुद्ध प्रेम रखें। सहिष्णुता से हमें आध्यात्मिक प्रकाश मिलता है, जो धर्मान्धता से उतना ही दूर है जितना दक्षिणी ध्रुव से उत्तरी ध्रुव। धर्म का सच्चा ज्ञान भिन्न-भिन्न धर्मों के बीच की दीवारें तोड़ डालता है।

मंगल-प्रभात, १९४५; पृ॰ ३८-४०

परंतु सब महान धर्मों का अध्ययन करते समय एक नियम हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। वह यह कि संबंधित धर्मों के प्रसिद्ध अनुयायियों की रचनाओं द्वारा ही उनका अध्ययन करना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि कोई भागवत का अध्ययन करना चाहे, तो उसे किसी विरोधी आलोचक के किए हुए अनुवाद से नहीं करना चाहिए। परंतु किसी भागवत-प्रेमी के अनुवाद से करना चाहिए। बाइबल का अध्ययन हमें धर्मनिष्ठ ईसाइयों की टीकाओं द्वारा करना चाहिए। अपने धर्म के सिवा दूसरे धर्मों के इस अध्ययन से हमें सब धर्मों की मूलभूत एकता का ज्ञान हो जाएँगा और उस सर्वव्यापी तथा शुद्ध सत्य की झाँकी भी मिल जाएँगी, जो संप्रदायों और धर्मो के दायरे से परे हैं।

कोई क्षणभर के लिए भी यह डर न रखे कि दूसरे धर्मों के आदरपूर्ण अध्ययन से स्वयं अपने धर्म के प्रति हमारी श्रद्धा कमज़ोर हो जाएँगी। हिंदू दर्शनशास्त्र मानता है कि सब धर्मों में सत्य के तत्त्व मौजूद हैं और उन सब के प्रति वह आदर और पूजा का भाव रखने का आदेश देता है। इसमें यह चीज़ तो मान ही ली गई है कि हमारा अपने धर्म के प्रति आदर हो। दूसरे धर्मों के अध्ययन और उनकी कद्रदानी से यह आदर घटना नहीं चाहिए। बल्कि इस आदर के फलस्वरूप दूसरे धर्मों के प्रति हम में आदर का भाव पैदा होना चाहिए।

यंग इंडिया, ६-१२-१९२८

मैं यह नहीं मानता कि लोग दूसरों को, खास तौर पर धर्मपरिवर्तन की दृष्टि से, अपने धर्मों के बारे में कहें। धर्म में कहने की गुंजाइश नहीं होती। उसे जीवन में उतारना होता है। तब वह अपना प्रचार स्वयं कर लेता है।

यंग इंडिया, २०-१०-१९२७

धर्म अत्यंत व्यक्तिगत वस्तु है । हमें अपने ज्ञान के अनुसार जीवन व्यतीत करके एक-दूसरे की उत्तम बातें ग्रहण करनी चहिये और इस प्रकार ईश्वर को प्राप्त करने के मानव-प्रयत्नों के कुल योग में वृद्धि करनी चाहिए।

हरिजन, २८-११-१९३६

१२. अस्पृश्यता-निवारण

कोई भी जन्म से अछूत नहीं हो सकता, क्योंकि सभी उस एक आग की चिनगारियाँ हैं। कुछ मनुष्यों को जन्म से ही अस्पृश्य समझना गलत है।

यह व्रत केवल 'अछूतों' से मित्रता करके ही पूरी नहीं हो जाता, इसमें सभी प्राणियों को आत्मवत् प्रेम करने का समावेश होता है। अस्पृश्यता-निवारण का अर्थ सारे संसार के लिए प्रेम और उसकी सेवा है और इस प्रकार वह अहिंसा में समा जाता है। अस्पृश्यता-निवारण का अर्थ है मनुष्य-मनुष्य के बीच की और भिन्न-भिन्न श्रेणी के प्राणियों के बीच की दीवारें तोड़ डालना। हम देखते हैं कि संसार में सर्वत्र ऐसी दीवारें खड़ी कर दी गई हैं।

मंगल-प्रभात, १९४५; पृ॰ ३१, ३३, ३४

तीसरा विभाग: आर्थिक व्यवस्था

क—अहिंसक अर्थ-व्यवस्था

१. अहिंसात्मक आधार

नये दृष्टिकोण के अनुसार हम न केवल जो मिल सके उसे पाने का विचार छोड़ देंगे, परंतु जो सबको न मिल सके उसे लेने से इनकार कर देंगे। मेरा खयाल है कि अर्थशास्त्र की भाषा में हमारे लिए आम लोगों से सफलतापूर्वक अपील करना कठिन नहीं होना चाहिए। और यह प्रयोग खासा सफल हो जाएँ, तो इससे बहुत बड़े और अज्ञात आध्यात्मिक परिणाम निकलेंगे। मेरी यह मान्यता नहीं कि आध्यात्मिक कानून केवल अपने ही क्षेत्र में काम करता है। इसके विपरीत, वह जीवन की साधारण प्रवृत्तियों के द्वारा ही अपने को प्रकट करता है। इस प्रकार वह आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों पर भी अपना प्रभाव डालता है।

यंग इंडिया, ३-९-१९२५

२. आर्थिक क्षमता के लिए मानव-तत्त्व अत्यावश्यक

मनुष्य एक इंजन है और उसको गति देने वाली शक्ति आत्मा है। यह अजीब इंजन अधिक से अधिक काम वेतन के लिए या दबाव से नहीं करेगा। यह तभी संभव होगा जब गति देने वाली शक्ति अर्थात् प्राणी की इच्छाशक्ति या आत्मा में उसीके सही ईंधन प्रेम द्वारा अधिक से अधिक बल का संचार किया जाएँगा। इस मामले में सार्वत्रिक नियम यह है कि मालिक और नौकर में शक्ति और बुद्धि एक निश्चित मात्रा में विद्यमान मान ली जाएँ, तो उनसे अधिकतम भौतिक परिणाम आपस के वैरभाव द्वारा प्राप्त नहीं होगा, बल्कि एक-दूसरे के प्रति प्रेम से प्राप्त होगा। निःस्वार्थ व्यवहार से अत्यंत कारगर नतीजा निकलेगा। अगर आप नौकर से मेहरबानी का बरताव उसकी कृतज्ञता से लाभ उठाने के विचार से करेंगे, तो आपको बदले में न कृतज्ञता मिलेगी और न अपनी मेहरबानी की कोई कीमत। क्योंकि आप इसी के पात्र हैं। इसके विपरीत, आप कोई आर्थिक हेतु रखे बिना नौकर के साथ कृपापूर्ण व्यवहार करेंगे, तो आपके सारे आर्थिक हेतु पूरे हो जाएँगे। यहाँ भी और जगह की भाँति जो अपनी जान बचायेगा वह खोयेगा और जो खोयेगा वह पायेगा।

मान लीजिए कोई फौज़ी अफ़सर यह चाहता है कि वह अपने को कुछ भी कष्ट न देकर केवल अनुशासन के नियम लागू करके अपनी टुकड़ी को अत्यंत कारगर बना ले, तो वह किन्हीं भी नियमों से इस स्वार्थपूर्ण सिद्धांत के आधार पर अपने मातहतों की पूरी शक्ति का विकास नहीं कर सकेगा। परंतु यदि अपने आदमियों के साथ वह गहरे संबंध कायम करता है, उनके हितों का अधिक से अधिक ध्यान रखता है और उनके प्राणों की अधिक से अधिक कीमत करता है, तो वह अपने प्रति उनके स्नेह और अपने चरित्र में उनके विश्वास के द्वारा उनकी कारगर शक्ति को इतनी मात्रा में बढ़ा देगा जितनी और किसी उपाय से नहीं बढ़ा सकता।

अपने आफिस के कर्मचारियों के शासक की हैसियत से किसी व्यापारी को पिता का अधिकार और जिम्मेदारी प्राप्त होती है। अधिकांश मामलों में किसी व्यापारिक पेढ़ी में प्रवेश करने वाला युवक घर के वातावरण से बिलकुल अलग हो जाता है। उसके मालिक को उसका

पिता बन जाना चाहिए। अन्यथा घरमें हमेशा मिलने वाली व्यावहारिक सलाह-सूचना और सहायता के लिए वह पिता का अभाव महसूस करता है। इसलिए मालिक के पास अपने नौकरों के साथ न्याय करने का एकमात्र साधन यह कठोर आत्म-निरीक्षण ही है कि 'मैं अपने मातहतों के साथ वैसा ही बरताव करता हूँ या नहीं, जैसा मैं अपने लड़के के साथ संयोगवश उसके इसी तरह की स्थिति में पड़ जाने पर करता।'

मान लीजिए किसी जहाज़ के कप्तान को मज़बूर होकर अपने ही पुत्र को एक साधारण नाविक की स्थिति में रखना पड़ता है। उस समय जो बरताव वह अपने लड़के के साथ करेगा, वही अपने मातहत काम करने वाले हर आदमी के साथ करना उसका धर्म है। इसी तरह फ़र्ज कीजिए कि किसी कारखाने के मालिक को अपने ही लड़के को मामूली मज़दूर की स्थिति में रखने को विवश होना पड़े। तब अपने प्रत्येक मज़दूर के साथ हमेशा वैसा ही व्यवहार करना उसका धर्म है, जैसा वह अपने पुत्र के साथ करेगा। अर्थशास्त्र का यही एकमात्र कारगर, सही या व्यावहारिक नियम हो सकता है।

और जैसे किसी जहाज़ के टकराकर टूट जाने पर कप्तान का यह धर्म हो जाता है कि वह सबके बाद जहाज़ से हटे और अकाल पड़ने पर अपने मल्लाहों को खिलाकर अंतिम कौर स्वयं खाये, उसी प्रकार किसी व्यापारिक संकट में उद्योगपति का यह धर्म है कि वह अपने आदमियों के कष्ट-सहन में न सिर्फ शरीक हो, बल्कि अपने आदमियों को जितना कष्ट महसूस होने दे उससे अधिक कष्ट खुद उठा ले। ऐसा ही करे जैसे कोई पिता अकाल के समय, जहाज़ के टूट जाने पर या युद्ध में अपने पुत्र के लिए खुद को बलिदान कर देता है।

ये सब बातें बहुत अजीब मालूम होती है। फिर भी इस मामले में कोई सच्ची विचित्रता है तो वह यही कि ये बाते ऐसी लगती हैं; क्योंकि वे शाश्वत और व्यावहारिक दृष्टि से सब सच हैं।

गांधीजीज़ पैराफेज़ ऑफ 'अन्टु दिस लास्ट', १९५१; पृ॰ ८-११, २१-२३

३. मनुष्य ही संपत्ति है, सोना-चांदी नहीं

असल में धन के नाम से जो चीज़ चाही जाती है वह है मनुष्यों पर सत्ता। सीधे-सादे शब्दों में उसका अर्थ है, वह सत्ता जिससे हमें अपने लाभ के लिए नौकर, व्यापारी और कलाकार का श्रम मिल जाएँ। इसलिए साधारण अर्थ में धनवान बनने की कला सिर्फ अपने लिए बहुत-सी दौलत इकट्ठी करने की ही कला नहीं है, बल्कि ऐसी युक्ति आजमाने की कला है जिससे हमारे पड़ोसियों के पास हम से कम दौलत रहे। ठीक शब्दों में कहा जाएँ तो वह 'अपने पक्ष में अधिक से अधिक असमानता कायम करने की कला है।'

चूँकि संपत्ति का सार मनुष्यों पर सत्ता कायम करना है, इसलिए क्या यही निष्कर्ष नहीं निकलता कि जिन मनुष्यों पर उसकी सत्ता है वे जितने ऊँचे और संख्या में अधिक होंगे, उत्तनी ही सम्पत्ति अधिक होगी? शायद थोड़े विचार के बाद यह भी मालूम हो सकता है कि वे मनुष्य स्वयं ही संपत्ति हैं; न कि सोना-चांदी। संपत्ति की वास्तविक धमनियाँ नीली हैं और वे पत्थरों में नहीं परंतु माँस में हैं। संपत्तिमात्र की अंतिम सिद्धि यही है कि अधिक से अधिक सशक्त, तेज़स्वी आँखों वाले और प्रसन्न हृदय मनुष्य पैदा किए जाएँ। ऐसा समय भी आ सकता है जब इंग्लैण्ड गोलकुण्डा के हीरों से गुलामों को सजाकर अपनी दौलत का प्रदर्शन करने के बजाय ग्रीस के एक मानांकित पुरुष के कहे अनुसार अपने नीतिमान महापुरुषों को दिखाकर यह कह सके कि:

'ये हैं मेरे रत्न!!

गांधीजीज़ पैराफेज़ ऑफ 'अन्टु दिस लास्ट' , १९५१; पृ॰ २८, २९, ४१, ४२

इसलिए जीवन ही सम्पत्ति है। वह देश सबसे ज़्यादा समृद्ध है, जो अधिक से अधिक संख्या में सज्जन और सुखी मानवों का भरण-पोषण ..करता है। वह आदमी सबसे ज़्यादा समृद्ध है, जिसने अपने जीवन के कार्यों को अधिक से अधिक पूर्ण बनाया है और जिसका दूसरों के जीवन पर व्यक्तिगत रूप में और अपनी सम्पत्ति के जरिए अधिक से अधिक व्यापक प्रभाव है।

गांधीजीज़ पैराफेज़ ऑफ 'अन्टु दिस लास्ट' , १९५१; पृ॰ ५७

४. न्यायपूर्ण मज़दूरी

यदि मैं अपने आदमी को उचित मज़दूरी देता हूँ, तो मैं अनावश्यक धन जमा नहीं कर सकूंगा, भोग-विलास पर रुपया बरबाद नहीं कर सकूंगा और संसार में दरिद्रता की मात्रा को नहीं बढ़ा सकूंगा। जिस मज़दूर को मुझसे उचित मजदूरी मिलती है, वह अपने मातहतों के साथ न्याय का व्यवहार करेगा। इस प्रकार न्याय की धारा सूख नहीं जाएगी, परंतु जैसे-जैसे आगे बढ़ेगी वैसे वैसे बल-संचय करेगी। और जिस राष्ट्र में ऐसी न्याय-भावना होगी, वह सुखी और खुशहाल होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अर्थशास्त्री यह सोचने में भूल करते हैं कि किसी राष्ट्र के लिए स्पर्धा या होड़ अच्छी है। स्पर्धा से सिर्फ खरीदार को मज़दूर की मज़दूरी अन्यायपूर्ण ढंग से सस्ती मिल जाती है। नतीजा यह होता है कि धनवान अधिक धनी और निर्धन अधिक ग़रीब बनते हैं। अंत में इसका परिणाम राष्ट्र के लिए विनाशकारी ही हो सकता है। मज़दूर को अपनी योग्यता के अनुसार न्यायपूर्ण मज़दूरी मिलनी चाहिए। तब भी एक प्रकार की स्पर्धा तो होगी ही, परंतु लोग सुखी और कुशल होंगे; क्योंकि उन्हें मज़दूरी पाने के लिए एक-दूसरे से कमसे कम दर पर काम नहीं करना पड़ेगा, बल्कि उन्हें रोज़गार हासिल करने के लिए नये-नये कौशल प्राप्त करने होंगे। सरकारी नौकरियों के आकर्षक होने का यही रहस्य है, क्योंकि उनमें वेतन ऊँचे-नीचे पदों के अनुसार तय होता है। उनके लिए एक उम्मीदवार दूसरे से कम तनखाह लेने का प्रस्ताव नहीं करता, परंतु यही दावा करता है कि वह अपने प्रतिस्पर्धियों से अधिक योग्य है। जल और स्थल सेना में भी यही हाल है, जहाँ बहुत थोड़ा भ्रष्टाचार है। परंतु व्यवसाय और उद्योग में हद दर्जे की प्रतिस्पर्धा है और उसका परिणाम धोखेबाज़ी, धूर्तता और चोरी में आता है। रद्दी माल तैयार किया जाता है। उद्योगपति, मज़दूर और खरीदार सब अपने-अपने स्वार्थ का ध्यान रखते हैं। इससे सारा मानव-व्यवहार विषैला हो जाता है। मज़दूर भूखों मरते हैं और हड़ताल कर देते हैं। कारखानेदार मक्कार बन जाते हैं और ग्राहक भी अपने आचरण के नैतिक पहलू की उपेक्षा करते हैं। एक अन्याय से दूसरे अनेक अन्याय पैदा होते हैं और अंत में मालिक, मज़दूर और ग्राहक सब दु:खी होकर बरबाद हो जाते हैं। लोगों का धन ही उनमें अभिशाप का काम करता है।

सच्चा अर्थशास्त्र न्याय का अर्थशास्त्र है। लोग जितने न्याय करना और सदाचारी बनना सीखेंगे उतने ही सुखी होंगे। अन्य सब बातें न केवल व्यर्थ है, बल्कि सीधी विनाश की ओर ले जाने वाली हैं। येन केन प्रकारेण लोगों को धनवान बनना सिखाना उनकी महान कुसेवा करना है।

गांधीजीज़ पैराफेज़ ऑफ 'अन्टु दिस लास्ट', १९५१; पृ॰ ५०-५३

जो अर्थशास्त्र धन की पूजा करना सिखाता है और कमजोरों को हानि पहुँचाकर सबलों को दौलत जमा करने देता है, वह झूठा और भयानक अर्थशास्त्र है। वह मृत्यु का दूत है। इसके विपरीत सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय की हिमायत करता है; वह सबकी—जिनमें दुर्बल से दुर्बल भी शामिल हैं—समान रूप से भलाई चाहता है और सभ्य जीवन के लिए अनिवार्य है।

हरिजन, ९-१०-१९३७

५. आर्थिक समानता

समाज की मेरी कल्पना यह है कि जहाँ हम सब समान पैदा हुए है—अर्थात् हमें समान अवसर प्राप्त करने का हक है, वहाँ सबकी योग्यता एकसी नहीं है। यह कुदरती तौर पर असंभव है। उदाहरणार्थ, सबकी ऊँचाई, रंग या बुद्धि की मात्रा वगैरा एकसी नहीं हो सकती; इसलिए कुदरत की रचना ही ऐसी है कि कुछ लोगों में अधिक कमाने की और दुसरों में उनसे कम कमाने की योग्यता होगी। बुद्धिशाली लोग अधिक कमायेंगे और वे इस काम के लिए अपनी बुद्धि का उपयोग करेंगे। यदि वे अपनी बुद्धि का उपयोग दयाभाव से करें, तो वे राज्य का ही काम करेंगे। ऐसे लोग संरक्षक बनकर जीते हैं, और किसी तरह नहीं। मैं बुद्धिशाली मनुष्य को अधिक कमाने दूँगा और उसकी बुद्धि को कुंठित नहीं करूँगा। परंतु जैसे पिता के तमाम कमाऊ बेटों की कमाई परिवार के सम्मिलित कोष में जाती है, ठीक वैसे ही उसकी अधिकांश कमाई राज्य की भलाई में काम आनी चाहिए।

यंग इंडिया, २६-११-१९३१

आर्थिक समानता का सच्चा अर्थ है जगत के सब मनुष्यों के पास एक समान संपत्ति का होना, यानी सबके पास इतनी संपत्ति होना, जिससे वे अपनी कुदरती आवश्यकताएँ पूरी कर सकें। कुदरत ने यही एक आदमी का हाजमा अगर नाजुक बनाया हो और वह केवल पाँच ही तोला अन्न खा सके और दूसरे को बीस तोला अन्न खाने की आवश्यकता हो तो दोनों को अपनी-अपनी पाचन-शक्ति के अनुसार अन्न मिलना चाहिए। सारे समाज की रचना इस आदर्श के आधार पर होनी चाहिए। अहिंसक समाज को दूसरा आदर्श नहीं रखना चाहिए। पूर्ण आदर्श तक हम शायद नहीं पहुँच सकते, मगर उसे नज़र में रखकर विधान बनाएँ और व्यवस्था करें। जिस हद तक इस आदर्श के पास हम पहुँच सकेंगे, उसी हद तक सुख और संतोष प्राप्त करेंगे और उसी हद तक सामाजिक अहिंसा सिद्ध हुई कही जा सकेगी।

हरिजन, २५-८-१९४०

६. आय की समानता

अपनी बुद्धि को रुपये-आने-पाई में बदलने के बदले देश की सेवा में लगाइए। यदि आप डॉक्टर है तो भारत में इतनी बीमारियाँ हैं कि आपके सारे चिकित्सा-कौशल की उसमें ज़रूरत है। अगर आप वकील हैं तो हिंदुस्तान में काफ़ी मतभेद और झगड़े-टंटे है। अधिक झगड़े खडे करने के बज़ाय आप उन झगड़ों को निपटाइये और मुकदमेबाज़ी बंद कीजिए। यदि आप इंजीनियर हैं तो हमारे गरीब लोगों की हैसियत और ज़रूरत के अनुसार और फिर भी स्वास्थ्यप्रद और शुद्ध हवा वाले नमूनेदार मकान बनाइए। आपकी सीखी हुई कोई भी चीज़ ऐसी नहीं है, जिसका उपयोग न किया जा सके। (जिस भाई ने गांधीजी से यह प्रश्न पूछा था, वह एक चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट था। गांधीजी ने आगे उससे कहा था:) सब जगह काँग्रेस और उससे संबंधित संस्थाओं के हिसाब जाँचने के लिए हिसाब-परीक्षकों की सख्त ज़रूरत है। आप भारत आ जाइए—मैं आपको काफ़ी काम दूँगा और ४ आने रोज पारिश्रमिक भी दूँगा, जो भारत के लाखों लोगों की आमदनी से अवश्य ही बहुत ज़्यादा है।

यंग इंडिया, ५-११-१९३१

वकालत का पेशा करने का यह मतलब नहीं होना चाहिए कि एक देहाती बढ़ई की मज़दूरी से ज़्यादा पैसा लिया जाएँ।

हरिजन, १३-७-१९४०

मेरे स्वप्नों का स्वराज्य गरीब आदमी का स्वराज्य है। जीवन की आवश्यक वस्तुएँ आपको भी वैसे ही उपलब्ध होनी चाहिए, जैसे राजाओं और धनिकों को हैं। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि आपके भी उनके जैसे महल हों। सुख के लिए महल ज़रूरी नहीं हैं। आप या मैं तो उनमें खो ही जाएँगे। परंतु आपको जीवन की वे तमाम साधारण सुविधाएँ मिलनी चाहिए जो अमीरों को प्राप्त हैं। मुझे जरा भी शक नहीं कि जब तक स्वराज्य में आपके लिए ये सुख-सुविधाएँ निश्चित नहीं बनाई जातीं, तब तक वह पूर्ण स्वराज्य नहीं हैं।[१]

यंग इंडिया, २६-३-१९३१

एक प्रश्न के उत्तर में गांधीजी ने कहा कि अगर भारत को स्वाधीनता का ऐसा आदर्श जीवन व्यतीत करना है जिससे संसार ईर्ष्या करे, तो तमाम भंगियों, डोक्टरों, वकीलों, शिक्षकों, व्यापारियों और दूसरे लोगों को दिन भर के प्रामाणिक काम की एक-सी मज़दूरी मिलेगी। संभव है भारतीय समाज को यह ध्येय कभी प्राप्त न हो। परंतु यदि भारत वर्ष को सुखी देश बनना है, तो प्रत्येक भारतीय का कर्तव्य है कि वह इस लक्ष्य की ओर बढ़ने का प्रयत्न करे।

हरिजन, १६-३-१९४७

---

१. अहमदाबाद के मज़दूर-संघ में दिए गए भाषण से।

७. विकेन्द्रीकरण

मेरा कहना है कि भारत को अगर अहिंसक ढंग से अपना विकास करना है, तो उसे बहुत सी चीज़ों को विकेन्द्रित करना होगा। काफ़ी सेना रखे बिना न तो एक जगह सारी सत्ता केन्द्रित की जा सकती, न उसकी रक्षा की जा सकती है। सीधे-सादे घरों में ले जाने जैसी कोई चीज़ नहीं होती, इसलिए उनके लिए पुलिस रखने की ज़रुरत नहीं होती। अमीरों के महलों को डाके से बचाने के लिए मज़बूत पहरों की आवश्यकता होती है। इसी तरह बड़े-बड़े कारखानों को भी उनकी आवश्यकता होती है। ग्रामीण ढंग से संगठित भारत को शहरी रचना वाले तथा जल, स्थल और वायुसेना से सुसज्जित भारत की अपेक्षा विदेशी आक्रमण का कम खतरा रहेगा।

हरिजन, ३०-१२-१९३९

आप कारखानों की सभ्यता पर अहिंसा का निर्माण नहीं कर सकते, लेकिन वह स्वावलम्बी और स्वाश्रयी ग्रामों के आधार पर निर्माण की जा सकती है। मेरी कल्पना की ग्रामीण अर्थ-रचना शोषण का सर्वथा त्याग करती है और शोषण हिंसा का सार है। इसलिए अहिंसक होने के पहले आपको ग्रामीण मानस वाले बनना होगा, और ग्रामीण मानस वाले बनने के लिए आपको चरखे में श्रद्धा रखनी होगी।

हरिजन, ४-११-१९३९

साधना इस लक्ष्य की होनी चाहिए कि मानव सुखी हो और उसके साथ-साथ उसका पूरा मानसिक और नैतिक विकास हो। नैतिक विशेषण का प्रयोग मैं आध्यात्मिक के अर्थ में कर रहा हूँ। यह ध्येय विकेन्द्रीकरण में प्राप्त हो सकता है। केन्द्रीकरण का पद्धति के रूप में समाज की अहिंसक रचना के साथ मेल नहीं बैठता।

हरिजन, १८-१-१९४२

८. अहिंसक धंधे

सच पूछा जाएँ तो कोई प्रवृत्ति और कोई भी उद्योग, चाहे कितना ही छोटा हो, थोड़ी-बहुत हिंसा के बिना संभव नहीं। कुछ न कुछ हिंसा के बिना जिंदा रहना भी असंभव है। हमें करना यही है कि हम उसे यथासंभव ज़्यादासे ज़्यादा घटायें। वास्तव में अहिंसा शब्द का, जो नकारात्मक है, अर्थ ही यह है कि जीवन में जो हिंसा अनिवार्य है उसे छोड़ देने का वह प्रयत्न है। इसलिए जो कोई अहिंसा में विश्वास रखता है, वह ऐसे धंधों में लगेगा जिनमें कम से कम हिंसा हो। इस प्रकार, उदाहरण के लिए, यह कल्पना नहीं की जा सकती कि अहिंसा में विश्वास रखने वाला कोई आदमी कसाई का धंधा करेगा। यह बात नहीं कि माँसाहारी अहिंसक नहीं हो सकता। परंतु अहिंसा में विश्वास रखने वाला माँसाहारी भी शिकार नहीं करेगा और न वह युद्ध या युद्ध की तैयारियाँ करेगा। इस प्रकार अनेक प्रवृत्तियाँ और धंधे ऐसे हैं, जिनमें हिंसा अवश्य होती है और जिनसे अहिंसक मनुष्य को बचना चाहिए। परंतु खेती ऐसी है जिसके बिना जीवन असंभव है; और उसमें कुछ न कुछ हिंसा होती ही है। इसलिए निर्णायक तत्त्व यह है: कया धंधे की बुनियाद हिंसा पर है? परंतु चूँकि प्रवृत्तिमात्र में कुछ न कुछ हिंसा होती ही है, इसलिए काम इतना ही है कि उसमें होने वाली हिंसा को हम कम से कम करने का प्रयत्न करें। अहिंसा में हार्दिक विश्वास हुए बिना यह संभव नहीं। मान लीजिए एक ऐसा मनुष्य है जो प्रत्यक्ष हिंसा नहीं करता, और अपनी रोजी के लिए श्रम करता है, परंतु दूसरों के धन या वैभव पर सदा ईर्ष्या से जलता रहता है। वह अहिंसक नहीं है। इस प्रकार अहिंसक धंधा वह धंधा है, जो बुनियादी तौर पर हिंसा से मुक्त हो और जिस में दूसरों का शोषण या ईर्ष्या नहीं हो।

मेरे पास इसका ऐतिहासिक सबूत तो नहीं है, परंतु मेरा विश्वास है कि भारतवर्ष में एक समय ऐसा था, जब ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था का संगठन इस तरह के अहिंसक धंधो के आधार पर, मनुष्य के अधिकारों के आधार पर नहीं परंतु मनुष्य के कर्तव्यों के आधार पर होता था। जो इन धंधो में लगते थे वे अपनी रोजी बेशक कमाते थे, परंतु उनके श्रम से समाज की भलाई होती थी। उदाहरणार्थ, एक बढ़ई गाँव के किसान की ज़रूरतें पूरी करता था। उसे कोई नकद मज़दूरी नहीं

मिलती थी, परंतु गाँव वाले उसे अपनी पैदावार में से हिस्सा देते थे। इस व्यवस्था में भी अन्याय हो सकता है, परंतु वह अत्यंत कम किया जा सकता है। मैं साठ वर्ष से भी पहले के काठियावाड़ी जीवन की निज़ी जानकारी से कह रहा हूँ। उस समय लोगों की आँखों में आजकी अपेक्षा अधिक तेज़ था, उनके हाथ-पैर आज से ज़्यादा मज़बूत थे। उस जीवन का आधार अहिंसा थी, हालाँकि इसका लोगों को भान नहीं था।

शरीर-श्रम इन धंधों और उद्योगों की जान था और बड़े पैमाने पर कोई कल-कारखाने नहीं थे। कारण, जब मनुष्य उतनी ही जमीन रखकर संतोष मान लेता है जिसे वह खुद मेहनत करके जोत सकता है, तब वह दूसरों का शोषण नहीं कर सकता। दस्तकारियों में शोषण और गुलामी की गुंजाइश नहीं होती। बड़े पैमाने पर चलने वाले कारखाने एक आदमी के हाथों में धन इकट्ठा कर देते हैं और वह बाकी लोगों पर, जो उसके लिए गुलामों जैसे काम करते हैं, प्रभुत्व जमा लेता है। संभव है वह अपने मज़दूरों के लिए आदर्श स्थिति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहा हो, परंतु फिर भी वह शोषण ही है; और शोषण हिंसा का एक रूप है।

हरिजन, १-९-१९४०

९. प्राचीन भारत में सर्वोदय

सदाचार का पालन करने का अर्थ है अपने मन और विकारों पर प्रभुत्व पाना। हम देखते हैं कि मन एक चंचल पक्षी है। उसे जितना मिलता है उतनी ही उसकी भूख बढ़ती है और फिर भी उसे संतोष नहीं होता। हम अपने विकारों का जितना पोषण करते हैं, उतने ही निरंकुश वे बनते हैं। इसलिए हमारे पूर्वजों ने हमारे भोग की मर्यादा बना दी थी। उन्होंने देखा कि सुख बहुत हद तक मानसिक स्थिति है। यह ज़रूरी नहीं कि कोई मनुष्य धनवान होने के कारण सुखी हो और निर्धन होने के कारण दु:खी हो। धनवान अकसर दु:खी और गरीब अकसर सुखी पाये जाते हैं। करोड़ों लोग सदा निर्धन ही रहेंगे। यह सब देखकर हमारे पुरखोंने हमें भोग-विलास से और ऐश-आराम से दूर रहने का उपदेश दिया। हमने हजारों वर्ष पहले के हल से ही काम चलाया है। हमारी झोंपड़ियाँ अब भी उसी किस्म की हैं जैसी पुराने जमाने में थी; और हमारी देशी शिक्षा अब भी वैसी ही है जैसी पहले थी। हमारे यहाँ जीवन-नाशक स्पर्धा की प्रणाली नहीं रही। हरएक अपना-अपना धंधा या व्यवसाय करता था और नियमित मज़दूरी लेता था। यह बात नहीं कि हमें यंत्रों का आविष्कार करना नहीं आता था। परंतु हमारे बापदादा जानते थे कि अगर हमने इन चीज़ों में अपना दिल लगाया, तो हम गुलाम बन जाएँगे और अपनी नैतिक शक्ति खो बैठेंगे। इसलिए उन्होंने काफ़ी विचार करने के बाद निश्चय किया कि हमें केवल वही करना चाहिए जो हम अपने हाथ-पैरों से कर सकते हैं। उन्होंने देखा कि हमारा सच्चा सुख और स्वास्थ्य अपने हाथ-पैरों को ठीक तरह काम में लेने में है। उन्होंने यह भी कहा कि बड़े-बड़े शहर एक फंदा और व्यर्थ का भार है ओर लोग उनमें सुखी नहीं रहेंगे; वहाँ चोर-डाकुओं की टोलियाँ लोगों को सतायेंगी, व्यभिचार व बदी का बाज़ार गर्म रहेगा और गरीब लोग अमीरों द्वारा लूटे जाएँगे। इसलिए वे छोटे-छोटे गाँवों से संतुष्ट थे। उन्होंने देखा कि राजा और उनकी तलवारें नीति की तलवार से घटिया है और इसलिए वे पृथ्वी के सम्राटों को ऋषियों और फकीरों से नीच मानते थे। इस प्रकार के विधान वाला राष्ट्र दूसरों से सीखने के बजाय उन्हें सिखाने के लिए अधिक योग्य है। इस राष्ट्र के पास अदालतें, वकील और डॉक्टर थे, परंतु वे सब मर्यादाओं के भीतर रहते थे। हरएक जानता था कि ये पेशे खास तौर पर श्रेष्ठ नहीं है; साथ ही, वे वकील और वैद्य लोगों को लूटते नहीं थे। वे लोगों के

आश्रित माने जाते थे, न कि उनके मालिक। न्याय काफ़ी निष्पक्ष था। साधारण नियम तो अदालतों से दूर ही रहने का था। लोगों को फुसलाकर अदालतों में ले जाने वाले कोई दलाल नहीं थे। यह बुराई भी राजाधानियों के भीतर और उनके आसपास ही दिखाई देती थी। साधारण लोग स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते और अपना खेती का धंधा करते थे। वे सच्चे स्वराज्य का उपभोग करते थे।

हिंद स्वराज्य, १९०९; अध्याय १३

ख—उद्योगवाद

१. उद्योगवादः एक अभिशाप

मुझे भय है कि उद्योगवाद मानव-जाति के लिए अभिशाप बन जाने वाला है। उद्योगवाद सर्वथा इस बात पर निर्भर है कि आप में शोषण करने की कितनी शक्ति है, विदेशी मंडियाँ आपके लिए कहाँ तक खुली है और प्रतिस्पर्धियों का कितना अभाव है। चूँकि इंग्लैण्ड के लिए ये बातें दिनोंदिन कम हो रही हैं, इसलिए उसके यहाँ बेकारों की संख्या रोज बढ़ रही है। भारतीय बहिष्कार तो केवल मामूली-सी बात है। और जब इंग्लैण्ड की यह हालत है तो भारत जैसे विशाल देश को तो उद्योगीकरण से लाभ होने की आशा ही नहीं की जा सकती। सच तो यह है कि भारत जब दूसरे राष्ट्रों का शोषण करने लगेगा—और उसके यहाँ उद्योगीकरण हो गया तो वह ज़रूर शोषण करेगा—तब वह अन्य राष्ट्रों के लिए शाप और संसार के लिए खतरा बन जाएगा। तब दूसरे राष्ट्रों का शोषण करने के लिए भारत में कल-कारखाने बढ़ाने का मैं क्यों विचार करूँ? क्या आप यह करुण स्थिति नहीं देख रहे कि हम अपने ३० करोड़ बेकारों के लिए काम जुटा सकते हैं, परंतु इंग्लैण्ट अपने ३० लाख के लिए कोई काम मुहैया नहीं कर सकता; और उसके सामने ऐसी समस्या खड़ी है, जिसके आगे इंग्लैण्ड के बडे से बड़े बुद्धिमान चक्कर खा रहे है? उद्योगवाद का भविष्य अंधकारमय है। अमरीका, जापान, फ्रांस और जर्मनी इंग्लैण्ड के सफल प्रतिस्पर्धी हैं। भारत की मुट्ठीभर मिलें भी उसकी प्रतिद्वंद्वी हैं। और जैसे भारत में जागृति हो गई है, वैसे ही दक्षिण अफ्रीका में भी जागृति होगी। और वहाँ तो प्राकृतिक, खनिज और मानवीय साधन भी कहीं अधिक विपुल हैं। अफ्रीका की बलवान जातियों के सामने जबरदस्त अंग्रेज बिलकुल पिद्दी दिखाई देते हैं। आप कहेंगे कि अंत में तो वे भले जंगली ही हैं। वे भले ज़रूर है, परंतु जंगली नहीं; और शायद कुछ ही साल में पश्चिमी राष्ट्रों को अफ्रीका में अपने माल का सस्ता बाज़ार मिलना बंद हो सकता है। और यदि उद्योगवाद का भविष्य पश्चिम के लिए अंधकारमय है, तो क्या भारत के लिए वह और भी अंधकारमय नहीं होगा?

यंग इंडिया, १२-११-१९३१

वर्तमान कष्ट निःसंदेह असहनीय है। दरिद्रता का नाश होना ही चाहिए। परंतु उद्योगवाद इसका सही इलाज नहीं है।

यंग इंडिया, ७-१०-१९२६

२. मशीनें

मशीनों का अपना स्थान हैं; अपनी उन्होंने जड़ जमा ली है। परंतु उन्हें ज़रूरी मानव-श्रम का स्थान नहीं लेने देना चाहिए। सुधरा हुआ हल अच्छी चीज़ है। परंतु यदि संयोग से कोई एक आदमी अपने किसी यांत्रिक आविष्कार द्वारा भारत की सारी भूमि जोत सके और खेती की तमाम पैदावार पर नियंत्रण कर ले और यदि करोड़ों लोगों के पास कोई और धंधा न हो, तो वे भूखों मरेंगे और निकम्मे हो जाने के कारण जड़ बन जाएँगे, जैसे कि आज भी बहुत लोग बन गए हैं। हर क्षण यह डर रहता है कि और भी अनेक लोगों की वैसी ही दुर्दशा हो जाएँगी।

मैं गृह-उद्योगों की मशीनों में हर प्रकार के सुधार का स्वागत करूँगा। परंतु मैं जानता हूँ कि विद्युत-शक्ति से चलने वाले तकुए जारी करके हाथ से कातने वाले लोगों को हटा देना जुर्म है, यदि इसके साथ करोड़ों किसानों को उनके घरों में कोई धंधा मुहैया करने की हमारी तैयारी न हो।

यंग इंडिया, ५-११-१९२५

यंत्रों का वही उपयोग उचित है, जो सबकी भलाई के लिए हो।

यंग इंडिया, १५-४-१९२६

मैं अधिक से अधिक विकसित यंत्रों के उपयोग का भी समर्थन करूँगा, यदि उससे भारत की दरिद्रता और उससे पैदा होने वाला आलस्य मिट सके। मैंने सुझाया है कि हाथ-कताई ही दरिद्रता को भगाने का तथा काम और धन के अभाव को असंभव बनाने का एकमात्र सुलभ उपाय है। चरखा स्वयं एक कीमती मशीन है और मैंने अपने नम्र ढंग से भारत की विशेष परिस्थिति के अनुसार उसमें सुधार करने का प्रयत्न किया है।

यंग इंडिया, ३-११-१९२१

'क्या आप यंत्रमात्र के विरुद्ध हैं?'

मेरा जोरदार उत्तर 'नहीं' है। परंतु मैं उनकी विवेकहीन वृद्धि के खिलाफ हूँ। मैं यंत्रों की ऊपरी विजय से प्रभावित होने से इनकार करता हूँ। मैं तमाम नाशकारी यंत्रों का कट्टर विरोधी हूँ।

परंतु सीधे-सादे औजारों और ऐसे यंत्रों का, जिनसे व्यक्तियों का परिश्रम बचता हो और लाखों झोंपड़ियों का भार हलका होता हो, मैं स्वागत करूँगा।

यंग इंडिया, १७-६-१९२६

मुझे आपत्ति स्वयं मशीनों पर नहीं, बल्कि उनके लिए पागल बनने पर है। यह पागलपन श्रम बचाने वाले यंत्रों के लिए है। लोग श्रम बचाने में लगे रहते हैं, यहाँ तक कि हजारों लोगों को बेकार करके भूख से मरने के लिए छोड़ दिया जाता हैं। में भी समय और श्रम बचाना चाहता हूँ, मगर मानव-समाज के एक अंश के लिए नहीं, बल्कि सबके लिए। मैं भी धन इकट्ठा करना चाहता हूँ, मगर थोड़े से आदमियों के हाथों में नहीं, बल्कि सबके हाथों में। आज तो मशीनें मुट्ठीभर लोगों को करोड़ों की पीठ पर सवार होने में ही मदद करती हैं। इस सबके पीछे प्रेरक शक्ति श्रम बचाने की उदात्त भावना नहीं, बल्कि लोभ है। मैं इसी प्रकार की व्यवस्था के विरुद्ध अपनी सारी शक्ति लगाकर लड़ रहा हूँ।

'तो आप यंत्रों के विरुद्ध नहीं लड़ रहे है; परंतु उनकी जो बुराइयाँ आज इतनी अधिक प्रकट हो रही हैं, उनके विरुद्ध लड़ रहे है?'

मैं निःसंकोच कहूँगा कि 'हाँ', परंतु मैं इतना और कहूँगा कि सबसे पहले वैज्ञानिक सत्यों और आविष्कारों को निरे लोभ के साधन नहीं रहना चाहिए। तब मज़दूरों को हद से ज़्यादा काम नहीं करना पड़ेगा और मशीनें बाधक बनने के बजाय सहायक होंगी। मेरा उद्देश्य यंत्रों का सर्वथा नाश नहीं, परंतु उनकी सीमा बाँधना है।

क्या इस विषय के अंत तक जाने पर यह न कहना पड़ेगा कि बिजली से चलने वाले सारे पेचीदा यंत्र खतम हो जाने चाहिए?'

यह संभव है। मगर मैं एक बात साफ़ कर देता हूँ। मुख्य विचार मनुष्य का है। हमें यह देखना होगा कि मशीन मनुष्य को बिलकुल पंगु न बना दे। उदाहरणार्थ, मैं समझदारी के साथ कुछ अपवाद रखूँगा। सिंगर की सीने की मशीन को ही लीजिए। जो थोड़ी-सी उपयोगी चीज़ें

आविष्कृत हुई हैं, उनमें से एक यह भी है और उसकी योजना के बारे में एक प्रेमकथा है। सिंगरने अपनी पत्नी को हाथों से सीने और बखिया लगाने की नीरस क्रिया पर परिश्रम करते देखा और केवल उसके प्रति अपने प्रेम के कारण सीने की मशीन का आविष्कार किया, ताकि वह अनावश्यक परिश्रम से बच जाएँ। परंतु उसने न केवल उसीका परिश्रम बचाया बल्कि ऐसे प्रत्येक व्यक्ति का परिश्रम बचा दिया, जो सीने की मशीन खरीद सकता है।

'परंतु उस हालत में इन सिंगर मशीनों को बनाने के लिए कारखाना खड़ा करना होगा। और उसमें साधारण ढंग की बिजली से चलने वाली मशीनरी रखनी होगी।'

हाँ, परंतु मैं यह कहने जितना समाजवादी ज़रूर हूँ कि ऐसे कारखाने राष्ट्र की संपत्ति या राज्य के नियंत्रण में होने चाहिए। उनका काम अत्यंत आकर्षक और आदर्श परिस्थितियों में होना चाहिए। वह मुनाफे के लिए नहीं, परंतु मानव-जाति के फायदे के लिए होना चाहिए और उसका हेतु लोभ के स्थान पर प्रेम होना चाहिए। मैं केवल मज़दूरों की काम करने की हालतों में तबदीली चाहता हूँ। यह धन की पागल दौड़धूप बंद होनी चाहिए और मज़दूर को न सिर्फ जीवन-वेतन का ही, बल्कि ऐसे दैनिक काम का भी, जो केवल नीरस बेगार न हो, आश्वासन मिलना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में यंत्र उस पर काम करने वाले मनुष्य के लिए उतना ही सहायक होगा, जितना राज्य के लिए और अपने मालिक के लिए होगा। वर्तमान पागल दौड़धूप बंद हो जाएँगी और, जैसा मैंने कहा है, मज़दूर आकर्षक और आदर्श स्थितियों में काम करेगा। मेरे ध्यान में जो अपवाद हैं, उनमें से यह केवल एक है। सीने की मशीन के पीछे प्रेम था। व्यक्ति का खयाल सबसे ज़्यादा रखा जाना चाहिए। व्यक्ति के परिश्रम की बचत मशीन का लक्ष्य होना चाहिए और प्रामाणिक मानव-कल्याण का विचार, न कि लोभ, उसका हेतु होना चाहिए। लोभ के स्थान पर प्रेम को बिठा दीजिए, फिर सब ठीक हो जाएगा।

यंग इंडिया, १३-११-१९२४

'मैं समझा, आप इस यंत्रयुग के विरुद्ध हैं।'

यह कहना मेरे विचारों को तोड़-मरोड़कर रखना है। मैं यंत्रमात्र के विरुद्ध नहीं हूँ, परंतु जो यंत्र हमारा स्वामी बन जाएँ, उसका मैं सख्त विरोधी हूँ।

'आप भारत में उद्योगीकरण नहीं करेंगे?'

मैं अपने अर्थ में करूँगा। ग्राम-समाजों को पुनर्जीवित करना चाहिए। भारत के देहात भारतीय शहरों और कस्बों को उनकी ज़रूरत की तमाम चीज़ें पैदा करके देते थे। हमारे शहर जब विदेशी मंडियाँ बन गए और विदेशों से ला-लाकर सस्ता और भद्दा माल यहाँ भरकर देहात का धन चूसने लगे, तब भारत निर्धन हो गया।

'तो आप फिर से प्राकृतिक अर्थ-व्यवस्था कायम करना चाहेंगे?'

हाँ। परंतु मैं देहात का उद्योगीकरण दूसरे ही ढंग से कर रहा हूँ।

हरिजन, २७-२-१९३७

यह दावा किया जा सकता है कि देश का महान मिल-उद्योग एक भारतीय उद्योग है। परंतु जापान और लंकाशायर का मुकाबला कर सकने के बावजूद वह एक ऐसा उद्योग है, जो आम लोगों का ठीक उतनी ही मात्रा में शोषण करता है और उनकी दरिद्रता को बढ़ाता है, जितना वह खादी पर विजयी होता है। संपूर्ण उद्योगीकरण के आधुनिक पागलपन में मेरे दृष्टिकोण की उपेक्षा नहीं तो उस पर आपत्ति ज़रूर की जाती है। वह दलील दी जाती है कि उद्योगीकरण की प्रकृति के कारण जनसाधारण की दरिद्रता बढ़ना अनिवार्य है और इसलिए उसे सहन कर लेना चाहिए। मैं इस बुराई को अनिवार्य नहीं समझता, उसे सहन करने की तो बात ही क्या? चरखा-संघ ने सफलतापूर्वक दिखा दिया है कि देहातों में भारत की सारी ज़रुरत का कपड़ा तैयार किया जा सकता है और इसके लिए केवल राष्ट्र का अवकाश का ही समय कताई और उसके बाद की क्रियाओं में लगाना पड़ेगा।

हरिजन, २३-१०-१९३७

मैं खुद तो बड़ी-बड़ी कम्पनियों के और लम्बी-चौड़ी मशीनरी के जरिए उद्योगों के केन्द्रीकरण के विरुद्ध हूँ। यदि भारत खद्दर और उसके सारे अर्थो को अपना ले, तो मैं यह आशा

नहीं छोड़ूँगा कि भारत केवल उतने ही आधुनिक यंत्रों को दाखिल करेगा, जो जीवन की सुख-सुविधाओं के लिए और श्रम बचाने के लिए ज़रूरी समझे जाएँगे।

यंग इंडिया, २४-७-१९२४

देहातों का पुनरुद्धार तभी संभव है जब उनका आगे शोषण न किया जाएँ। बड़े पैमाने पर उद्योगीकरण का आवश्यक परिणाम देहातियों का निष्क्रिय अथवा सक्रिय शोषण होगा, क्योंकि उससे होड़ और बाज़ार तलाश करने की समस्याएँ बीच में खड़ी होंगी। इसलिए हमें इस बात पर सारी शक्ति केन्द्रित करनी होगी कि गाँव स्वाश्रयी बनें और माल मुख्यतः अपने उपयोग के लिए ही तैयार करें। अगर ग्रामोद्योग का यह स्वरूप कायम रखा जाएँ, तो ग्रामीणों के ऐसे आधुनिक यंत्रों और ओजारों को काम में लेने के बारे में कोई एतराज न होगा, जिन्हें वे बना सकते हैं और जिनका उपयोग करने की उनकी शक्ति हो। शर्त इतनी ही है कि वे दूसरों के शोषण का साधन न बनाए जाएँ।

हरिजन, २९-८-१९३६

मैं साफ़ शब्दों में अपना यह विश्वास जाहिर कर देना चाहता हूँ कि बड़े पैमाने पर माल तैयार करने का पागलपन ही आज के विश्व-संकट के लिए जिम्मेदार है। क्षणभर के लिए मान लीजिए कि यंत्रों से मानव-जाति की सारी ज़रूरतें पूरी हो सकती हैं, फिर भी उनके कारण विशेष प्रदेशों में उत्पादन केन्द्रित हो जाएँगा। और फिर आपको वितरण का नियमन करने के लिए द्राविड़ी प्राणायाम काना होगा। इसके विपरीत, यदि उत्पादन और वितरण दोनों उन्हीं क्षेत्रों में हों जहाँ उन चीज़ों की ज़रुरत है, तो नियमन अपने-आप हो जाता है; उसमें धोखेबाज़ी को कम मौका मिलता है, और सट्टे को तो बिलकुल नहीं मिलता।

आप देखते है कि ये राष्ट्र (यूरोप और अमरीका) संसार की तथाकथित कमज़ोर या असंगठित जातियों का शोषण करने में समर्थ हैं। एक बार इन जातियों को प्रारंभिक ज्ञान हो गया और उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि अब हम अपना शोषण नहीं होने देंगे, तो वे जो कुछ स्वयं

जुटा सकेंगी उसीसे संतुष्ट रहेंगी। तब कमसे कम जहाँ तक जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं का संबंध है, थोक उत्पादन खतम हो जाएँगा।

जब उत्पादन और खपत दोनों स्थानीय बन जाते हैं, तब अनिश्चित मात्रा में और किसी भी मूल्य पर उत्पादन की गति बढ़ाना बंद हो जाता है। तब हमारी वर्तमान आर्थिक व्यवस्था से उपस्थित होने वाली तमाम बेशुमार कठिनाइयाँ और समस्याएँ खतम हो जाएँगी।

थोड़े से लोगों की जेबों में पूँजी इकट्ठी नहीं होने पायेगी और न शेष लोगों के लिए विपुलता के बीच अभाव रह पायेगा।

तो आप भविष्य के आदर्श भारत में थोक उत्पादन की कल्पना नहीं करतें?

थोक उत्पादन की कल्पना मैं ज़रूर करता हूँ, मगर उसका आधार बल नहीं होगा। आखिर चरखे का संदेश तो यहि है। वह थोक उत्पादन ही है, परंतु लोगों के अपने घरों में है। यदि आप व्यक्तिगत उत्पादन को लाखों गुना बढ़ा दें, तो क्या वह विशाल पैमाने पर थोक उत्पादन नहीं हो जाएँगा? परंतु मैं अच्छी तरह समझता हूँ कि आपका 'थोक उत्पादन' एक पारिभाषिक शब्द है, जिसके अनुसार कम से कम संख्या में मनुष्य अत्यंत पेचीदा यंत्रों की सहायता से उत्पादन करते हैं। मैं मानता हूँ कि यह गलत है। मेरे यंत्र अत्यंत प्रारंभिक ढंग के ही होंगे, जो लाखों घरों में रखे जा सकेंगे।

'तो आप यंत्रों के विरुद्ध इसीलिए और तभी हैं, जब वे मुट्ठीभर लोगों के हाथों में उत्पादन और वितरण का काम केन्द्रित कर देते हैं?'

आप ठीक कहते हैं। मुझे विशेषाधिकार और एकाधिकार से घृणा है। मेरे लिए वह चीज़ निषिद्ध है, जिसमें सबका हिस्सा न हो। यही मेरी बात का सार है।

हरिजन, २-११-१९३४

ग—पूँजी और श्रम

१. पूंजी और श्रम

हम यह मानने लगे हैं कि पृथ्वी पर पूँणी ही सब-कुछ है। परंतु क्षणभर के विचार से प्रगट हो जाएगा कि श्रम के पास वह पूँजी है, जो पूँजीपति के पास कभी नहीं हो सकती। रस्किनने अपने जमाने में यह शिक्षा दी कि श्रम के लिए अद्वितीय अवसर होते हैं। परंतु उसकी बात किसी की समझ में नहीं आई। इस समय सर डेनियल हेमिल्टन नामक एक अंग्रेज है, जो वास्तव में यह प्रयोग कर रहा है। वह अर्थशास्त्री है और पूँजीपति भी है; परंतु अपनी आर्थिक खोजों और प्रयोगों द्वारा वह उन्हीं परिणामों पर पहुँचा है, जिन पर रस्किन अंतःप्रेरणा से पहुँचा है। और वह श्रम के लिए एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण संदेश लाया है। वह कहता है कि यह खयाल करना गलत है कि धातु का टुकड़ा पूँजी है। वह कहता है कि यह सोचना भी गलत है कि उत्पादन की अमुक मात्रा पूँजी है; परंतु वह यह भी कहता है कि यदि जड़ में पहुँचे तो श्रम ही पूँजी है, और वह जीवित पूँजी अखूट है।

इंडियाज़ केस फोर स्वराज, १९३२; पृ॰ ३९३

मैं पूँजी और श्रम आदि के बीच सही संबंधों की स्थापना के पक्ष में हूँ। मैं किसी एक का दूसरे पर प्रभुत्व नहीं चाहता। मैं नहीं मानता कि दोनों में कोई जन्मजात वैर है।

यंग इंडिया, ८-१-१९२५

अगर पूँजी ताकत है, तो श्रम भी ताकत है। दोनों ही ताकतों का विनाश या निर्माण के लिए उपयोग किया जा सकता है। दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं। ज्यों ही मज़दूर अपने बलको अनुभव कर लेता है, उसकी स्थिति पूँजीपति का गुलाम रहने के बजाय उसका साझीदार बन जाने की हो जाती है। अगर उसका उद्देश्य अकेले ही उद्योग का मालिक बन जाने का हो, तो वह बहुत करके सोने का अंडा देने वाली मुर्गी को मार डालने का काम करेगा।

यंग इंडिया, २६-३-१९३१

२. कोई नैतिक अधिकार नहीं

प्र॰—मनुष्य भौतिक धन इकट्ठा करे या नैतिक, वह समाज के दूसरे सदस्यों की सहायता या सहयोग से ही ऐसा करता है। तब क्या उसे यह नैतिक अधिकार है कि वह उसका कोई हिस्सा मुख्यतः व्यक्तिगत लाभ के लिए काम में ले?

उ॰—नहीं, उसे कोई नैतिक अधिकार नहीं।

हरिजन, १६-२-१९४७

३. ट्रस्टीशिप

प्र॰—आपने धनवानों से संरक्षक (ट्रस्टी) बनने को कहा है। क्या इसका यह अर्थ है कि वे अपनी सम्पत्ति का व्यक्तिगत स्वामित्व छोड़कर उसका ऐसा ट्रस्ट बना दें, जो कानून की नज़र में जायज हो और लोकतांत्रिक ढंग से संचालित हो? वर्तमान ट्रस्टी के मरने पर उसका उत्तराधिकारी कैसे निश्चित किया जाएँगा?

उ॰—बरसों पहले मेरा जो विश्वास था वही आज भी है कि सब-कुछ ईश्वर का है, उसीने उसे बनाया है। इसलिए वह उसकी सारी प्रजा के लिए है, किसी खास व्यक्ति के लिए नहीं। जब किसी के पास अपने उचित हिस्से से ज़्यादा हो, तो वह ईश्वर की प्रजा के लिए उस हिस्से का संरक्षक बन जाता है।

ईश्वर सर्वशक्तिमान है, इसलिए उसे संग्रह करके रखने की आवश्यकता नहीं। वह रोज़ पैदा करता है। इसलिए मनुष्य का भी सिद्धांत होना चाहिए कि वह उतना ही अपने पास रखे, जिससे आज का काम चल जाएँ; कल के लिए वह चीज़ें जमा करने न रखे। अगर आम तौर पर लोग इस सत्य को जीवन में उतार लें, तो वह कानून-सम्मत बन जाएगा और संरक्षकता एक वैध संस्था हो जाएँगी। मैं चाहता हूँ कि यह भारत की संसार को एक देन बन जाएँ। फिर न तो कोई शोषण रहेगा और न आस्ट्रेलिया और दूसरे मुल्कों में गोरों और उनकी संतानों के लिए कोई सुरक्षित स्थान और जमीन-जायदाद का सवाल रहेगा। इन भेदभावों में पिछले दो महायुद्धों से भी अधिक जहरीली लड़ाई के बीज हैं। रही बात उत्तराधिकारी की, सो पदासीन ट्रस्टी को कानून के मातहत अपना उत्तराधिकारी चुनने का अधिकार होगा।

हरिजन, २३-२-१९४७

मेरा संरक्षकता का सिद्धांत कोई क्षणिक वस्तु नहीं है, धोखाघड़ी तो हरगिज नहीं है। मुझे भरोसा है कि वह और सब सिद्धांतों के बाद भी जिंदा रहेगा। इसके पीछे दर्शन और धर्म का बल है। धनवानों ने इस सिद्धांत पर अमल नहीं किया है, इससे यह सिद्धांत झूठा साबित नहीं हो जाता;

इससे धनवानों की कमज़ोरी साबित होती है। अहिंसा के साथ और किसी सिद्धांत का मेल नहीं बैठता।

हरिजन, १६-१२-१९३९

प्र॰—किसी संरक्षक का उत्तराधिकारी कैसे तय किया जाएँगा? क्या उसे केवल नाम प्रस्तावित करने का अधिकार होगा और अंतिम निर्णय का अधिकार राज्य को रहेगा?

उ॰—जैसा कि मैंने कल कहा था, उत्तराधिकारी का चुनाव उस मूल मालिक के हाथ में रहना चाहिए, जो पहले-पहल संरक्षक (ट्रस्टी) बना। परंतु अंतिम चुनाव राज्य द्वारा किया जाना चाहिए। इस व्यवस्था से राज्य और व्यक्ति दोनों पर अंकुश रहता है।

प्र॰—जब संरक्षकता के सिद्धांत के अमल में आनेसे व्यक्तिगत संपत्ति सार्वजनिक संपत्ति बन जाती है, तब स्वामित्व राज्य का होगा—जो हिंसा का एक साधन है—या ग्राम-पंचायतों और नगरपालिकाओं जैसी स्वेच्छा से खड़ी की गई संस्थाओं का होगा, जिन्हें अंतिम सत्ता राज्य-निर्मित कानूनों से प्राप्त होती है?

उ॰—इस प्रश्न में विचार की कुछ गड़बड़ है। बदली हुई सामाजिक स्थिति में कानूनी स्वामित्व ट्रस्टी के पास होगा, न कि राज्य के पास। राज्य संपत्ति को जब्त न करे और समाज की सेवा के लिए पूँजी या जायदाद के मूल स्वामी की योग्यता हक की रूसे समाज के हितार्थ काम में आवे, इसलिए ट्रस्टीशिप का सिद्धांत काम में लाया जाता है।

मेरी यह राय भी नहीं है कि राज्य का आधार सदा हिंसा पर ही होना चाहिए। सिद्धांत रूप से ऐसा भले ही हो, मगर व्यवहार में इस सिद्धांत का तकाजा है कि राज्य की बुनियाद अधिकतर अहिंसा पर हो।

हरिजन, १६-२-१९४७

४. गांधीजी का ट्रस्टीशिप का सिद्धांत

जेल से छूटने पर हम लोगों ने इस प्रश्न को आगाखां महल की नजरबंद छावनी में जहाँ छोड़ा था वहाँ से फिर हाथ में लिया। किशोरलालभाई और नरहरिभाई भी संरक्षकता का एक सीधा-सादा और व्यावहारिक फार्मूला तैयार करने में शरीक हो गए। वह बापू के सामने रखा गया। उन्होंने उसमें थोड़े से फेरबदल किए। अंतिम मसौदा इस प्रकार है:

१. संरक्षकता (ट्रस्टीशिप) ऐसा साधन प्रदान करती है, जिससे समाज की मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था समतावादी व्यवस्था में बदल जाती है। इसमें पूँजीवाद की तो गुंजाइश नहीं है, मगर यह वर्तमान पूँजीपति-वर्ग को अपना सुधार करने का मौका देती है। इसका आधार यह श्रद्धा है कि मानव-स्वभाव ऐसा नहीं है, जिसका कभी उद्धार न हो सके।

२. वह संपत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व का कोई हक मंजूर नहीं करती; हाँ, उसमें समाज स्वयं अपनी भलाई के लिए किसी हद तक इसकी इजाजत दे सकता है।

३. उसमें धन के स्वामित्व और उपयोग के कानूनी नियमन की मनाही नहीं है।

४. इस प्रकार राज्य द्वारा नियंत्रित संरक्षकता में कोई व्यक्ति अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए या समाज के हित के विरुद्ध संपत्ति पर अधिकार रखने या उसका उपयोग करने के लिए स्वतंत्र नहीं होगा।

५. जैसे उचित न्यूनतन जीवन-वेतन स्थिर करने की बात कही गई है, ठीक उसी तरह यह भी तय कर दिया जाना चाहिए कि समाज में किसी भी व्यक्ति की ज़्यादा से ज़्यादा कितनी आमदनी हो। न्यूनतम और अधिकतम आमदनियों के बीच का फर्क उचित, न्यायपूर्ण और समय समय पर इस प्रकार बदलता रहने वाला होना चाहिए कि उसका झुकाव उस फर्क को मिटाने की तरफ़ हो।

६. गांधीवादी अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन का स्वरूप समाज की ज़रूरत से निश्चित होगा, न कि व्यक्ति की सनक या लालच से।

हरिजन, २५-१०-१९५२ **प्यारेलाल**

ध—जमींदार और किसान

१. एक आदर्श जमींदार

एक आदर्श जमींदार रैयत जो भार सह रही है उसमें से बहुतसा तुरंत घटा देगा। वह किसानों के गाढ़ संपर्क में आकर उनकी ज़रूरतें जान लेगा और जो निराशा आज उनकी जीवन-शक्ति को नष्ट कर रही है, उसके स्थान पर उनमें आशा का संचार करेगा। उसे किसानों के सफ़ाई और तंदुरस्ती संबंधी नियमों के अज्ञान से संतोष नहीं होगा। वह इस गरज से कि किसानों के जीवन की आवश्यकताएँ पूरी हों, अपने आपको दरिद्र बना लेगा। वह अपनी देखभाल में रहने वाले किसानों की आर्थिक स्थिति का अध्ययन करेगा और ऐसी पाठशालाएँ कायम करेगा। जिनमें किसानों के बच्चों के साथ-साथ वह अपने बच्चों को भी शिक्षा दिलायेगा। वह गाँव के कुएँ और तालाब की सफ़ाई करेगा। वह स्वयं आवश्यक श्रम करके किसानों को अपनी सड़के बुहारना और टट्टियाँ साफ़ करना सिखायेगा। वह अपने बाग-बगीचे किसानों के इस्तेमाल के लिए निःसंकोच होकर खोल देगा। वह जिन आवश्यक मकानों को अपने सुख के लिए रखता है, उनमें से ज़्यादातर का उपयोग अस्पताल और पाठशाला आदि के लिए करेगा। अगर पूँजीपति-वर्ग समय की गति को पहचान ले और अपनी सारी संपत्ति के ईश्वर-प्रदत्त अधिकार के बारे में अपने विचार बदल ले, तो आनन-फानन में जिन सात लाख गोबर के ढेरों को आज गाँवों का नाम दिया जाता है, वे शांति, स्वास्थ्य और सुख के धाम बनाए जा सकते हैं।

यंग इंडिया, ५-१२-१९२९

जमींदार एक प्रणालिका अस्त्रमात्र है। उसके विरुद्ध आंदोलन छेड़ना ज़रूरी नहीं है। जब तक जमींदार किसानों के साथ अच्छा बरताव करते हैं, तब तक जमींदारों से हमारा कोई झगड़ा नहीं।

यंग इंडिया, २६-११-१९३१

२. जमींदारों से

मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि उचित कारण के बिना संपत्तिधारी वर्गो की खानगी जायदाद छीनने में मैं शरीक नहीं होऊँगा। मेरा उद्देश्य तो आपके हृदयों में प्रवेश करके आपके विचार इस तरह बदल देना है कि आप अपनी समस्त व्यक्तिगत संपत्ति अपने किसानों के संरक्षक बनकर अपने पास रखें और मुख्यतः उन्हींकी भलाई के कामों में उसका उपयोग करें। मुझे इसमें जरा भी शक नहीं है कि अगर हमारे करोड़ों लोगों का बिलकुल प्रामाणिक और असंदिग्ध मत लिया जाएँ, तो वे पूँजीपति वर्गों की तमाम संपत्ति छीन लेने के पक्ष में राय नहीं देंगे। मैं पूँजी और श्रम, जमींदार और किसान के सहयोग और मेल के लिए काम कर रहा हूँ।

परंतु मैं चेतावनी की एक बात ज़रूर कहूँगा। मैंने मिल-मालिकों से हमेशा कहा है कि वे अकेले ही कारखानों के मालिक नहीं हैं, मज़दूर भी उनकी बराबरी के मालिक हैं। उसी तरह मैं आपसे कहूँगा कि आपकी जमीनों के मालिक जितने आप हैं उतने ही किसान भी हैं; और आप अपनी आमदनी को ऐश-आराम या फिजूलखर्ची में नहीं उड़ा सकते, बल्कि उसे आपको रैयत की भलाई में खर्च करना चाहिए। आप एक बार अपनी रैयत को अपनेपन की भावना का अनुभव करा दें और यह महसूस करा दें कि एक ही परिवार के आदमियों के नाते उनके हित आपके हाथों में सुरक्षित हैं और उन्हें कभी हानि नहीं पहुँचेगी, तो आप विश्वास रखिए कि उनमें और आपमें कोई झगड़ा नहीं हो सकता और न वर्ग-विग्रह ही होगा।

मैं आपसे कहता हूँ कि आपके तमाम डर और संदेह आपके अपराधी अंतःकरण के कारण हैं। आपने जाने-अनजाने जिन अन्यायों को करने का अपराध किया हो उन्हें मिटा दीजिए। स्वयं किसानों की शांति और आज़ादी के साथ जीने से अधिक कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं है; और उन्हें आपकी संपत्ति से कभी ईर्ष्या नहीं होगी, बशर्ते कि आप उसे उनके लिए इस्तेमाल करें।

अमृतबाज़ार पत्रिका, २-८-१९३४

३. भूमि का स्वामित्व

सच्चा समाजवाद हमें अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में मिला है। उन्होंने हमें सिखाया है कि 'सबै भूमि गोपाल की, यामें अटक कहाँ?' सीमा मनुष्य बनाता है और वही उसे तोड़ सकता है। गोपाल का शब्दार्थ है ग्वाला। इसका अर्थ ईश्वर भी है। आधुनिक भाषा में उसका अर्थ है राज्य अर्थात् जनता। यह सही है कि आज जमीन की मालिक जनता नहीं है। परंतु दोष इस शिक्षा में नहीं है। दोष हममें है, जिन्होंने उस पर अमल नहीं किया।

मुझे कोई संदेह नहीं कि हम इस समस्या को उतने ही अच्छे ढंग से हल कर सकते हैं, जितना कि दूसरा कोई राष्ट्र—इसमें रूस भी शामिल है—और वह भी हिंसा के बिना।

हरिजन, २-१-१९३७

४. किसान और जमींदार

किसानों को यह सिद्धांत अस्वीकार कर देना चाहिए कि उनकी जमीन सर्वथा उन्हीं की है, जमींदारों की बिलकुल नहीं। वे एक ऐसे सम्मिलित परिवार के सदस्य है या होने चाहिए, जिसका मुखिया जमींदार है, जो उनके अधिकारों की रक्षा करता है। कानून कुछ भी हो, जमींदारी का बचाव तभी संभव है, जब वह सम्मिलित परिव्वर की स्थिति को पहुँच जाएँ।

यंग इंडिया, २८-५-१९३१

५. सहकारी खेती

एक प्रश्न के उत्तर में गांधीजी ने कहा कि सहकार की मेरी कल्पना यह है कि सब मालिक मिलजुल कर जमीन पर कब्जा रखें और जोतने, बोने, फसल काटने वगैरा का काम भी मिलजुल कर ही करें। इससे श्रम, पूँजी और औजार वगैरा की बचत होगी। मालिक मिलजुल कर काम करेंगे और पूँजी, औजार, जानवर और बीज वगैरा पर उनका मिलाजुला हक होगा। मेरी कल्पना की सहकारी खेती से जमीन का कायापलट हो जाएँगा और लोगों की गरीबी और बेकारी का काला मुँह हो जाएँगा। यह सब तभी संभव है जब लोग एक-दूसरे के मित्र और एक परिवार के सदस्य बन जाएँ।

हरिजन, ९-३-१९४७

चौथा विभाग: समाज-व्यवस्था

क—मर्यादित समाज: मनुष्य

१. अहिंसा—एक सामाजिक सद्गुण

मेरी राय में अहिंसा केवल व्यक्तिगत सद्गुण नहीं है। वह एक सामाजिक सद्गुण भी है, जिसका विकास अन्य सद्गुणों की भाँती किया जाना चाहिए। अवश्य ही समाज का नियमन ज़्यादातर आपस के व्यवहार में अहिंसा के प्रगट होने से होता है। मेरा अनुरोध इतना ही है कि उसका राष्ट्रीय और आंतरराष्ट्रीय पैमाने पर अधिक विस्तार किया जाए।

हरिजन, ७-१-१९३९

२. व्यक्ति बनाम समाज

मैं व्यक्तिगत स्वतंत्रता की कीमत करता हूँ, परंतु आप को यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य मुख्यतः एक सामाजिक प्राणी है। अपने व्यक्तिवाद को सामाजिक प्रगति की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना सीखकर वह अपने मौजूदा ऊँचे दर्जे पर पहुँचा है। अनियंत्रित व्यक्तिवाद जंगली जानवरों का कानून है। हमें व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और सामाजिक संयम के बीच के रास्ते पर चलना सीखना होगा। सारे समाज की भलाई के लिए सामाजिक संयम को खुशी से मानना व्यक्ति और समाज—जिसका व्यक्ति सदस्य है—दोनों को समृद्ध करता है।

हरिजन, २७-५-१९३९

३. अस्पृश्यता के लिए स्थान नहीं

यदि विश्व में जो कुछ है वह सब ईश्वर से व्याप्त है अर्थात् ब्राह्मण और भंगी, पंडित और मेहतर, सबमें भगवान विद्यमान है, तो न कोई ऊँचा है और न कोई नीचा, सभी सर्वथा समान हैं; समान इसलिए कि सब उसी सृष्टिकी संतान है।

हरिजन, ३०-१-१९३७

४. वर्णाश्रम

मुझे हिंदू धर्म का जो भी ज्ञान है, उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि वर्ण का अर्थ अत्यंत सरल है। इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि हम सब अपने-अपने पूर्वजों का परंपरागत धंधा सिर्फ जीविका के लिए ही करें, अगर वह पैतृक धंधा मूल नैतिक धर्म से असंगत न हो। आप महसूस करेंगे कि अगर हम सब इस वर्ण धर्म का पालन करें, तो हमारी भौतिक महत्त्वाकांक्षाएँ मर्यादित हो जाएँगी, और हमारी शक्ति उन विशाल क्षेत्रों की खोज़ के लिए मुक्त हो जाएगी, जिनसे और जिनके द्वारा हमें ईश्वर का ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

यंग इंडिया, २०-१०-१९२७

वर्णाश्रम धर्म इस पृथ्वी पर मनुष्य-जीवन के उद्देश्य की व्याख्या करता है। वह रोज़-ब-रोज़ धन बटोरने और आजीविका के भिन्न-भिन्न साधन खोज़ने के लिए पैदा नहीं हुआ है। इसके विपरीत, मनुष्य इसलिए पैदा हुआ है कि वह अपने प्रभु को जानने के लिए अपनी शक्ति का एक-एक अणु काम में ले। इसलिए वर्णाश्रम धर्म उस पर यह पाबंदी लगाता है कि वह जीवित रहने के लिए सिर्फ अपने बापदादों का पेशा पेशा ही करे। यही वर्णाश्रम धर्म है—न कम, न ज़्यादा।

यंग इंडिया, २७-१०-१९२७

५. वर्ण के रूप में जाति

आर्थिक दृष्टि से इसका किसी समय बहुत बड़ा महत्त्व था। इसमें परंपरागत कौशल की रक्षा होती थी। इससे आपसी प्रतिस्पर्धा मर्यादित होती थी। यह दरिद्रता का सबसे अच्छा इलाज था। और इसमें व्यवसाय-संघों के तमाम फायदे मौजूद थे। यद्यपि इसमें साहस या आविष्कार को पोषण नहीं मिलता था, फिर भी ऐसा नहीं मालूम होता कि इन दोनों के रास्ते में उसने कभी रुकावट डाली हो।

इतिहास की दृष्टि से कहें तो जाति को भारतीय समाज की प्रयोगशाला में मनुष्य का प्रयोग या सामाजिक मेल बिठाने का प्रयत्न माना जा सकता है। यदि हम इसे सफल सिद्ध कर सकें, तो संसार के सामने हृदयहीन स्पर्धा और लोभ व लालच से पैदा होने वाले सामाजिक विग्रह के उत्तम उपाय के तौर पर हम इसे पेश कर सकते हैं।

यंग इंडिया, ५-१-१९२१

मैं मानता हूँ कि हरएक मनुष्य अमुक स्वाभाविक वृत्तियाँ लेकर इस संसार में जन्म लेता है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ निश्चित मर्यादाओं के साथ पैदा होता है, जिन पर वह काबू नहीं पा सकता। उन मर्यादाओं का ध्यानपूर्वक अवलोकन करके ही वर्ण का कानून बनाया गया है। वह अमुक वृत्तियोंवाले अमुक लोगों के लिए कार्य के अमुक क्षेत्र निश्चित करता है। इससे सारी अनुचित स्पर्धा टल जाती है। मर्यादाओं को स्वीकार करते हुए भी वर्णधर्म में ऊँच-नीच के भेदभाव की कोई गुंजाइश नहीं; एक तरफ़ वह प्रत्येक को अपने परिश्रम के फलकी गारंटी देता है और दूसरी तरफ़ मनुष्य को अपने पड़ोसी को दबाने से रोकता है। इस महान धर्म को नीचे गिरा दिया गया है और वह बदनाम हो गया है। परंतु मेरा पक्का विश्वास है कि आदर्श समाज-व्यवस्था का विकास तभी होगा, जब इस धर्म के गूढ़ अर्थों को पूरी तरह समझकर उन पर अमल किया जाएँगा।

मोडर्न रिव्यू, अक्तूबर १९३५; पृ॰ ४१३

६. अंतर्जातीय विवाह

वर्णाश्रम में अंतर्जातीय विवाह या खानपान की न तो कोई मनाही थी और न होनी चाहिए।

यद्यपि वर्णाश्रम में अंतर्जातीय विवाह और खानपान का कोई निषेध नहीं है, फिर भी इस मामले में ज़बरदस्ती नहीं हो सकती। यह व्यक्ति की अपनी मरजी पर ही छोड़ दिया जाना चाहिए कि वह कहाँ शादी करे या खाये। यदि वर्णाश्रम धर्म का पालन किया जाए तो जहाँ तक विवाह का संबंध है, लोग अपने ही वर्ण में ब्याह-शादी करने की ओर झुकेंगे।

हरिजन, १६-११-१९३५

जाति और प्रांत की दोहरी दीवार टूटनी चाहिए। अगर भारत एक और अखण्ड है, तो ऐसे कृत्रिम विभाजन नहीं होने चाहिए, जिनसे ऐसे असंख्य छोटे-छोटे गुट बन जाएँ तो आपस में न खानपान करें, न शादी-ब्याह करें।

हरिजन, २५-७-१९३६

प्र॰—आप अंतर्जातीय विवाहों की हिमायत करते हैं। क्या आप भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी भारतीयों के बीच भी विवाह होने के पक्ष में हैं?

उ॰—मैं स्वीकार करता हूँ कि हमेशा मेरी यह राय नहीं रही; फिर भी बहुत पहले मैं इस नतीज़े पर पहुँच चुका था कि अलग-अलग धर्मवालों के बीच विवाह होना अच्छी बात है। मेरी शर्त इतनी ही है कि यह संबंध काम-वासना का परिणाम न हो। मेरी राय में ऐसा विवाह विवाह ही नहीं है। वह व्यभिचार है। मैं विवाह को एक पवित्र संस्था मानता हूँ। इसलिए दोनों पक्षों की परस्पर मित्रता होनी चाहिए और एक पक्ष के हृदय में दूसरे पक्ष के धर्म के प्रति समान आदर होना चाहिए। इसमें धर्म-परिवर्तन का कोई प्रश्न नहीं। इसलिए विवाह-संस्कार दोनों धर्मों के पुरोहितों द्वारा कराया जाएँगा। यह सुखद घटना तब हो सकती है, जब जातियाँ अपना आपस का वैरभाव छोड़ दें और संसारभर के धर्मों के प्रति आदरभाव रखें।

हरिजन, १६-३-१९४७

७. स्त्रियों का स्थान

दोनों (स्त्री-पुरुष) एकसा जीवन बिताते हैं। दोनों की एक-सी भावनाएँ होती हैं। दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। एक की सक्रिय सहायता के बिना दूसरा जी नहीं सकता।

परंतु युगों से किसी न किसी तरह पुरुष ने स्त्री पर अपना प्रभुत्व रखा है और इसलिए स्त्री अपने को पुरुष से नीचा समझने लगी है। उसने पुरुष की इस स्वार्थपूर्ण सीख की सचाई में विश्वास कर लिया है कि वह पुरुष से नीची है। परंतु ज्ञानी पुरुषों ने उसका बराबरी का दर्जा स्वीकार किया है। फिर भी इसमें कोई शक नहीं कि एक खास स्थान पर पहुँचकर दोनों की दिशा अलग-अलग हो जाती है। जहाँ मूल रूप में दोनों एक है, वहाँ यह भी उतना ही सच है कि शरीर-रचना की दृष्टि से दोनों में गहरा अंतर है। इसलिए दोनों का काम भी जुदा-जुदा ही होगा। स्त्रियों के भारी बहुमत पर मातृत्व का कर्तव्य-भार सदा ही रहेगा, लेकिन उसके लिए जिन गुणों की आवश्यकता है उनका पुरुष में होना ज़रूरी नहीं है। स्त्री निवृत्ति-प्रिय है, पुरुष क्रियाशील है। स्त्री स्वभाव से गृह-स्वामिनी है। पुरुष रोटी कमाने वाला है। स्त्री रोटी का रक्षण और वितरण करने वाली है। वह हर अर्थ में संभाल रखने वाली है। मानव-जाति के शिशुओं का पालन करना उसका विशेष और एकमात्र असाधारण अधिकार है। उसकी देखभाल के बिना मानव-वंश अवश्य लुप्त हो जाएँगा।

मेरी राय में यह स्त्री और पुरुष दोनों के लिए पतन की बात होगी कि स्त्री से घर छोड़कर उसकी रक्षा के लिए बंदूक उठाने को कहा जाय या ललचाया जाय। यह तो फिर से बर्बरता की ओर लौटना और प्रलय का प्रारंभ कहा जाएँगा। जिस घोड़े पर पुरुष चढ़ता है उस पर स्त्री भी चढ़ने की कोशिश करती है, तो वह अपने को और पुरुष को दोनों को गिराती है। पुरुष अपनी संगिनी को उसका विशेष काम छोड़ देने के लिए ललचायेगा या मज़बूर करेगा, तो इसका पाप उसके सिर पर रहेगा। अपने घर को सुव्यवस्थित और साफ़-सुथरा रखने में उतनी ही वीरता है, जितनी बाहरी आक्रमण से उसकी रक्षा करने में है।

मैंने लाखों किसानों को उनके प्राकृतिक वातावरण में देखा है और आज भी मैं छोटे से गाँव में उन्हें रोज़ देखता हूँ; उससे वलात् मेरे ध्यान में दोनों के कार्यक्षेत्र के स्वाभाविक बँटवारे की

बात आई है। स्त्रियाँ लुहार और बढ़ई नहीं होतीं। परंतु स्त्री-पुरुष दोनों खेतों में काम करते हैं और सबसे भारी काम पुरुष करते हैं। औरतें घरों को संभालती और उनकी व्यवस्था करती हैं। वे परिवार के अल्प साधनों में वृद्धि करती हैं, परंतु मुख्य कमाने वाला पुरुष ही रहता है।

कार्यक्षेत्र के विभाजन की बात मान लेने पर जिन साधारण गुणों और संस्कृति की ज़रूरत है, वे लगभग दोनों के लिए एकसे ही हैं।

इस महान समस्या को हल करने में मेरा योग यह है कि व्यक्तियों और राष्ट्रों—दोनों के जीवन के हर क्षेत्र में मैंने सत्य और अहिंसा को अपनाने के लिए पेश किया है। मैंने यह आशा बाँध रखी है कि इस काम में स्त्रीका असंदिग्ध नेतृत्व रहेगा और इस प्रकार मानव-विकास में अपना योग्य स्थान पाकर वह अपने को नीचा समझना छोड़ देगी।

मैंने इन कालमों में यह कहा है कि स्त्री अहिंसा का अवतार है। अहिंसा का अर्थ है असीम प्रेम, और प्रेम का अर्थ है असीम कष्ट—सहन की शक्ति। यह शक्ति पुरुष की माँ—स्त्रीके सिवा अधिक से अधिक मात्रा में और कौन दिखा सकता है? जब वह नौ महीने तक बच्चे को पेट में रखती और उसका पोषण करती है और इससे होने वाले कष्ट में आनंद मानती है, तब वह अपनी इसी शक्ति का परिचय देती है। प्रसवपीड़ा से होने वाले कष्ट से अधिक और कौन-सा कष्ट होगा? परंतु प्रजनन कार्य के सुख में वह उसे भूल जाती है। इसी तरह अपने शिशु को दिन-दिन बढ़ता हुआ देखने के लिए रोज़-रोज़ कौन यातनाएँ सहन करता है? वह अपना यह प्रेम सारी मानव-जाति को दे दे और भूल जाय कि वह कभी पुरुष की काम-वासना की चीज़ थी या हो सकती है, तो फिर पुरुष के समक्ष उसकी माता, निर्माता और मूक नेता बनने का गौरवपूर्ण पद उसे प्राप्त हो जाएँगा। शांतिरूपी अमृत के प्यासे इस युद्धरत संसार को शांति की कला सिखाने का काम भगवान ने उसी को सौंपा है। वह सत्याग्रह की नेता बन सकती है, क्योंकि उसमें पुस्तकीय ज्ञान की ज़रूरत नहीं पड़ती। उसके लिए तो कष्ट-सहन और श्रद्धा से प्राप्त होने वाले दृढ़ हृदय की ज़रूरत होती है।

जब वर्षों पहले मैं पूना के सासून अस्पताल में रोगशय्या पर पड़ा हुआ था, तब मेरी भली परिचारिका ने मुझे एक स्त्री का किस्सा सुनाया था। उसे एक कष्टदायी ऑपरेशन करवाना था।

उस स्त्रीने बेहोशी की दवा सूंघने से इसलिए इनकार कर दिया कि वह अपने पेट के बच्चे के प्राणों को खतरे में नहीं डालना चाहती थी। बेहोशी की एकमात्र दवा उसके पास अपने बच्चे का स्नेह था। उसे बचाने के खातिर वह किसी भी पीड़ा को बहुत बड़ी नहीं मानती थी। जिस स्त्री-जाति में इस प्रकार की अनेक वीरांगनाएँ हैं, वह अपने आपको तुच्छ न समझे और न इस बात का अफसोस करे कि वे पुरुष के रूप में पैदा नहीं हुई। उस वीरांगना का खयाल करके मुझे अकसर स्त्री के दर्जे पर ईर्ष्या होती है। ज़रुरत इतनी ही है कि वह अपने स्वरूप को पहचाने। जितना कारण स्त्री के लिए पुरुष-जन्म पाने की इच्छा करने में है, उतना ही पुरुष के लिए स्त्री-जन्म पाने की इच्छा करने में है। परंतु यह इच्छा व्यर्थ है। हम जिस स्थिति में जन्मे हों उसी में सुखी रहें और प्रकृति ने हमारे भाग्य में जो कर्तव्य लिख दिया है उसे करें।

हरिजन, २४-२-१९४०

८. स्त्री-पुरुष के समान अधिकार

गांधीजी ने कहा कि सामान्य नियम के तौर पर मैं जीवनभर एक पुरुष के लिए एक पत्नी के और एक स्त्री के लिए एक पति के पक्ष में हूँ। रिवाज के कारण तथाकथित उच्च जातियों की स्त्रियों को लादे हुए वैधव्य का अभ्यास हो गया है। पुरुषों के लिए इससे उल्टा नियम है। इसे मैं बेहयाई की बात कहता हूँ। परंतु जब तक समाज इस दयाजनक स्थिति में है, तब तक मैं तमाम युवा विधवाओं के लिए विधवा-विवाह कि हिमायत करता हूँ। मैं स्त्री-पुरुष की समानता में विश्वास रखता हूँ, इसलिए स्त्रियों के लिए मैं उन्हीं अधिकारों की कल्पना कर सकता हूँ जो पुरुषों को प्राप्त हैं।

हरिजन, १६-३-१९४७

९. विवाह

पत्नी पति की क्रीतदासी नहीं है, बल्कि उसकी जीवन-संगिनी और सहायक है और उसके तमाम सुख-दुःख में बराबर का हिस्सा बँटाने वाली है—वह स्वयं अपना मार्ग चुनने को उतनी ही स्वतंत्र है जितना उसका पति।

आत्मकथा, १९४८; प॰ ३८

मैं बाल-विवाहों से घृणा करता हूँ। मैं बाल-विधवा को देखकर काँप उठता हूँ और जब किसी पति को विधुर बनते ही पाशविक उपेक्षा के साथ पुनर्विवाह करते देखता हूँ, तो क्रोध के मारे काँपने लगता हूँ। मुझे उन माता-पिताओं की अपराधपूर्ण उपेक्षा पर दुःख होता है, जो अपनी लड़कियों को सर्वथा अज्ञान और निरक्षर रखते है और उनका पालन-पोषण सिर्फ इस गरज से करते हैं कि किसी साधन-संपन्न युवक से उनका ब्याह कर दिया जाय।

यंग इंडिया, २१-७-१९२१

छोटे-छोटे बच्चों के विवाह में कन्यादान के क्या मानी हैं? क्या किसी पिता का अपने बालकों पर उसी तरह अधिकार होता है, जिस तरह जायदाद पर उसका अधिकार होता है? वह उनका मालिक नहीं, रक्षक है। और जब वह संरक्षित की स्वाधीनता को बेचकर रक्षा करने के अपने विशेषाधिकार का दुरुपयोग करता है, तो वह उस अधिकार को खो देता है।

जिन माता-पिता ने किसी बच्ची को किसी बूढ़े के साथ या कुमार अवस्था वाले लड़के के साथ ब्याह कर अपनी संरक्षकता का दुरुपयोग किया है, वे अपने पाप के प्रायश्चित्त के रूप में कम से कम यही कर सकते हैं कि जब वह लड़की विधवा हो जाय तब उसका दुबारा ब्याह कर दें। जैसा मैं किसी पिछली टिप्पणी में कह चुका हूँ, इस प्रकार की शादियाँ शुरू से ही रद्द मानी जानी चाहिए।

यंग इंडिया, ११-११-१९२६

विवाह जीवन में एक स्वाभाविक वस्तु है और इसे किसी भी तरह हेय समझना बिलकुल अनुचित है। आदर्श यह है कि विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना जाएँ और इसलिए विवाहित जीवन में संयम का पालन किया जाय।

हरिजन, २२-३-१९४२

१०. वैधव्य

कोई स्त्री, जिसने अपने जीवन-साथी के प्रेम का अनुभव कर लिया है, ज्ञान .. और स्वेच्छापूर्वक वैधव्य को अपनाती है, तो उससे जीवन की शोभा और गौरव बढ़ता है, घर पवित्र बनता है और स्वयं धर्म का उत्थान होता है। धर्म या रिवाज से जबरन् लादा हुआ वैधव्य एक असह्य जुआ है और वह गुप्त पाप द्वारा घर को अपवित्र और धर्म को पतित बनाता है।

यदि हम शुद्ध होना चाहते हैं, हिंदू धर्म को बचाना चाहते हैं, तो हमें जबरन् लादे जानेवाले वैधव्य के इस ज़हर से छुटकारा पा लेना चाहिए। यह सुधार उनसे शुरू होना चाहिए, जिनके यहाँ बाल-विधवाएँ हैं। वे साहस जुटाएँ और यह देखें कि उनकी देखभाल में रहने वाली बाल-विधवाओं का केवल विवाह ही न हो, बल्कि बाकायदा और अच्छी तरह विवाह हो। वास्तव में उनका कभी विवाह हुआ ही नहीं था।

यंग इंडिया, ५-८-१९२६

११. तलाक

विवाह दूसरे सब लोगों को छोड़कर दो जीवन-संगियों के मिलने के अधिकार पर स्वीकृति की मुहर लगाता है, जब अपनी सम्मिलित राय में वे ऐसे मिलन को वांछनीय मानते हों। परंतु विवाह एक साथी को यह अधिकार नहीं देता कि वह अपनी मिलन की इच्छा को दूसरे साथी से जबरन् पूरा कराये। यह दूसरा प्रश्न है कि जब एक साथी नैतिक या अन्य कारणों से दूसरे साथी की इच्छापूर्ति न कर सकता हो तब क्या करना चाहिए। मैं स्वयं तो अगर तलाक के सिवा दूसरा कोई उपाय न हो तो उसे बिना किसी संकोच के स्वीकार कर लूँगा, मगर अपनी नैतिक उन्नति में बाधा नहीं पड़ने दूँगा—बशर्ते कि मैं केवल नैतिक कारणों से ही संयम रखना चाहूँ।

यंग इंडिया, ८-१०-१९२५

१२. गर्भ-निरोध

यदि यह कहा जाय कि संतति-नियमन अत्यधिक आबादी के कारण राष्ट्र के लिए आवश्यक है, तो मैं उसे नहीं मानता। इसे कभी साबित नहीं किया गया। मेरी राय में उचित भूमि-व्यवस्था, सुधरी हुई खेती और सहायक उद्योगों से देश आज से दुगुने लोगों का पालन-पोषण कर सकता है।

यंग इंडिया, २-४-१९२५

प्र॰—जिस माता का स्वास्थ्य अत्यधिक संतानों के कारण नष्ट हो जाता है, उसके ख़ातिर और स्वयं बच्चों के ख़ातिर क्या कृत्रिम उपायों से संतति-निरोध का आश्रय लेना आत्म-संयम के बाद दूसरे नंबर की अच्छी चीज़ नहीं हो सकती?

उ॰—स्त्रियों को अपने पतियों का विरोध करना होगा। अगर कृत्रिम उपायों का आश्रय लिया जाएँगा, तो भयंकर परिणाम होंगे। स्त्री-पुरुष केवल संभोग के लिए ही जिएँगे। वे दुर्बल मस्तिष्क वाले और असंतुलित बन जाएँगे तथा उनका मानसिक एवं नैतिक ऱ्हास हुए बिना नहीं रहेगा।

प्र॰—क्या अपवाद-स्वरूप मामलों में भी, जहाँ स्त्रियाँ संतानोत्पत्ति के लिए अत्यधिक दुर्बल हैं या माता-पिता में से कोई एक रोगी है, यह तरीका नहीं अपनाया जा सकता?

उ॰—नहीं। उपरोक्त मामलों में बेहतर यह है कि पति-पत्नी अलग अलग रहें।

मैं लोगों को नपुंसक या वंध्या बनाने का कानून लागू करना अमानुषिक मानता हूँ। परंतु जीर्ण रोगों वाले व्यक्तियों के बारे में वे राजी हों, तो उनका ऐसा बनना वांछनीय होगा। यह भी एक तरह का कृत्रिम उपाय है। और यद्यपि मैं स्त्रियों के लिए ऐसे उपायों के इस्तेमाल के खिलाफ हूँ, फिर भी चूँकि पुरुष आक्रमणकारी है, इसलिए उसके स्वेच्छापूर्वक पूंसत्वहीन बनने की मुझे परवाह नहीं।

अमृतबाज़ार पत्रिका, १२-१-१९३५

मैं महसूस करता हूँ कि मेरे जीवन के शेष वर्षों में यदि मैं स्त्रियों के हृदय में यह सत्य अंकित कर सकूँ कि वे स्वतंत्र है, तो हमारे लिए भारत में संतति-नियमन की समस्या नहीं रहेगी। जिस वक्त उनके पति संभोग की इच्छा से उनके पास आयें, उस समय यदि वे केवल 'नहीं' कहना सीख जाएँ। ... असली समस्या यह है कि वे उनका विरोध नहीं करना चाहती। बात सारी शिक्षा पर आ टिकती है। मैं चाहता हूँ कि स्त्री विरोध का अपना प्रारंभिक अधिकार सीख ले। अभी तो वह समझती है कि उसे यह अधिकार नहीं है। भारत की स्त्रियों को यह सत्य हृदयंगम कराना सबसे मुश्किल है। यदि मैं अपनी शक्ति संतति-नियमन में लगा दूँ, तो मुझे स्त्रियों को यह प्राथमिक शिक्षा देने का मौका नहीं मिलेगा।

अगर हम संतति-नियमन को छोड़ देते हैं, तो दूसरे अधिक अच्छे उपाय मिल जाएँगे। ज्यों ही हम अमुक साधनों को हानिकारक मानकर छोड़ना स्वीकार कर लेंगे, त्यों ही हमें दूसरे उपाय अवश्य मिल जाएँगे।

(नवम्बर १९३५ के 'एशिया' में छपी मिसेज मार्गरिट सेंगर की रिपोर्ट से।)

ख—विशाल समाज: पशु

१. गोरक्षा

गोरक्षा मेरे लिए मनुष्य-जाति के विकास में एक सबसे अद्भुत चमत्कारपूर्ण घटना है। यह मानव को अपनी स्वाभाविक मर्यादा से बाहर ले जाती है। मेरे लिए गाय का अर्थ है समस्त मनुष्येतर सृष्टि। गाय के द्वारा मनुष्य को तमाम प्राणियों के साथ तादात्म्य अनुभव करने का आदेश दिया गया है। गाय को ही देवता क्यों माना गया, यह मेरे लिए स्पष्ट है। भारत में गाय मनुष्य का उत्तम साथी है। वह कामधेनु है। वह न केवल दूध देती है, बल्कि खेती भी उसीके कारण संभव है। गाय मूर्तिमंत करुणामयी कविता है। इस नम्र और निरीह पशु की आँखों से करुणा टपकती है। भारत के करोड़ों लोगों की वह माता है। गोरक्षा का अर्थ है भगवान की समस्त मूक सृष्टि की रक्षा। प्राचीन ऋषियों ने, भले वे कोई भी हों, गाय से इसका आरंभ किया। निम्न श्रेणी के प्राणियों की पुकार इसलिए और भी प्रबल है कि वे मूक हैं।

यंग इंडिया, ६-१०-१९२१

जो हिंदू गाय की रक्षा करता है, उसे हरएक पशु की रक्षा करनी चाहिए। परंतु सब बातों का विचार करते हुए हम सिर्फ इसलिए उसकी गोरक्षा में दोष न निकालें कि वह दूसरे जानवरों को नहीं बचा पाता। इसलिए विचारणीय प्रश्न केवल यह है कि उसका गोरक्षा करना ठीक है या नहीं। और उसका ऐसा करना गलत नहीं है, यदि अहिंसा में विश्वास रखने वाले का आम तौर पर जानवरों को न मारना कर्तव्य समझा जा सकता हो। और प्रत्येक हिंदू, बल्कि प्रत्येक धार्मिक पुरुष, ऐसा ही करता है। आम तौर पर जानवरों को न मारने का और इसलिए उन्हें बचाने का कर्तव्य निर्विवाद सत्य माना जाना चाहिए। तब तो यह हिंदू धर्म के लिए तारीफ की बात है कि उसने गोरक्षा को कर्तव्य समझकर अपनाया है। और वह व्यक्ति हिंदू धर्म का घटिया नमूना है, जो दूसरे पशुओं की रक्षा करने की क्षमता रखते हुए भी केवल गाय की रक्षा करके ही संतोष मान लेता है। गाय केवल एक प्रतीक है। और गाय की रक्षा का काम तो कमसे कम है, जिसे करने की उससे आशा रखी जाती है।

यंग इंडिया, ११-११-१९२६

गोरक्षा का सूक्ष्म अथवा आध्यात्मिक अर्थ है सभी जीवों की रक्षा करना। हमारे ऋषियों ने यह आश्चर्यजनक आविष्कार किया (और मैं प्रतिदिन इसकी सचाई का अधिकाधिक कायल होता जा रहा हूँ।) कि जितना ज़्यादा मनुष्य अहिंसा और सत्य के आचरण में प्रगति करता है, उतना ही अधिकाधिक ईश्वर-प्रेरित धर्मसूत्रों और शास्त्र-वचनों का सत्य प्रगट होता है। सत्य और अहिंसा की जितनी अनुभूति होगी उतना ही ज्ञान बढ़ेगा। इन्हीं ऋषियों ने घोषित किया है कि गोरक्षा एक हिंदू का परम धर्म है और उसके पालन से मोक्ष मिलता है। लेकिन मैं यह मानने को तैयार नहीं हूँ कि केवल स्थूल गाय की रक्षा करने से मोक्ष प्राप्त हो सकता है। मोक्ष के लिए मोह, द्वेष, क्रोध और ईर्ष्या आदि विकारों को पूरी तरह जीतना पड़ता है। इसलिए निष्कर्ष यह निकलता है कि मोक्ष की भाषा में गोरक्षा का अर्थ जितना आम तौर पर माना जाता है उससे कहीं अधिक व्यापक और विस्तृत होना चाहिए। जिस गोरक्षा से मोक्ष प्राप्त हो सकता है, उसमें स्वभावत: प्रत्येक चेतन प्राणी की रक्षा शामिल होनी चाहिए। इसलिए मेरी राय में अहिंसा-सिद्धांत का छोटे से छोटा भंग—जैसे किसी भी स्त्री, पुरुष या बालक को कठोर वाणी द्वारा दु:ख पहुँचाना और संसार के दुर्बल से दुर्बल और तुच्छ से तुच्छ जीव को भी पीड़ा पहुँचाना—गोरक्षा के सिद्धांत का भंग होगा, गोमांस-भक्षण के पाप के समान होगा। उसमें कोई फर्क होगा तो मात्रा का ही होगा, प्रकार का नहीं।

यंग इंडिया, २९-१-१९२५

२. पशुओं के प्रति अहिंसा

क्रोध या स्वार्थवश किसी प्राणी का जी दुखाना, बुरा चाहना या प्राण लेना हिंसा है। इसके विपरीत, शांत और स्पष्ट विचार के बाद किसी जीव को शुद्ध और निःस्वार्थ हेतु से उसके आध्यात्मिक अथवा शारीरिक लाभ की दृष्टि से मार डालना या पीड़ा पहुँचाना शुद्ध से शुद्ध प्रकार की अहिंसा है। ऐसे हर मामले पर अलग अलग और गुण-दोष का विचार करके निर्णय होना चाहिए। हिंसा या अहिंसा की अंतिम कसौटी तो आखिर उस कृत्य के पीछे रहा हेतु ही होगा।

यंग इंडिया, ४-१०-१९२८

मेरी अहिंसा अपने ही ढंग की है। मैं जानवरों को न मारने का सिद्धांत पूरी तरह स्वीकार नहीं कर सकता। जो पशु मनुष्य को खा जाते हैं या नुकसान पहुँचाते हैं, उनकी जान बचाने की मुझ में कोई भावना नहीं है। उनकी वंशवृद्धि में सहायक होना मैं अनुचित समझता हूँ। इसलिए मैं चींटियों, बंदरों या कुत्तों को नहीं खिलाऊँगा। उनके प्राण बचाने के लिए मैं किसी मनुष्य के प्राणों का कभी बलिदान नहीं करूँगा।

इस ढंग से विचार करते हुए मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि जहाँ बंदर मनुष्य के कल्याण के लिए खतरा बन गए हैं, वहाँ उनका सफाया कर देना क्षम्य है। इस प्रकार का संहार कर्तव्य हो जाता है। यह सवाल उठ सकता है कि यह नियम मानव-प्राणियों पर क्यों नहीं लागू होना चाहिए। वह इसलिए लागू नहीं हो सकता है कि कितने ही बूरे हों तो भी वे हमारे ही जैसे हैं। जानवर को भगवान ने बुद्धि नहीं दी, मनुष्य को दी है।

हरिजन, ५-५-१९४६

३. विश्व-बंधुत्व

हिंदू धर्म के शुद्धत्तम रूप में तो ब्राह्मण, चींटी, हाथी और श्वपाक सबका दर्जा समान माना गया है। हिंदू धर्म न केवल मनुष्य-मात्र के, बल्कि प्राणिमात्र के बंधुत्व का आग्रह करता है। यह कल्पना ऐसी है कि इससे मनुष्य चकरा जाता है, मगर हमें इस पर अमल करना है। जिस क्षण हम मनुष्य-मनुष्य के बीच सच्ची और सजीव समानता फिर से स्थापित कर लेंगे, उसी क्षण हम मनुष्य और सारी सृष्टि के बीच समानता स्थापित कर सकेंगे। जब वह दिन आयेगा तब संसार में शांति और मनुष्यों में सद्भावना का राज्य फैल जाएँगा।

हरिजन, २८-३-१९३६

४. पशुबलि

इसकी कोई परवाह नहीं कि वेदों में पशुबलि के लिए स्थान बताया जाता है। हमारे लिए इतना काफ़ी है कि इस प्रकार की बलि सत्य और अहिंसा की मौलिक कसौटी पर नहीं टिक सकती। वेदों के पांडित्य के विषय में मैं अपनी अयोग्यता तुरंत स्वीकार कर लेता हूँ। परंतु जहाँ तक इस विषय का संबंध है, मुझे अपनी अयोग्यता की चिंता नहीं; क्योंकि यदि पशुबलि की प्रथा वैदिक समाज का अंग भी सिद्ध कर दी जाए, तो भी अहिंसा के पुजारी के लिए वह कोई उदाहरण नहीं बन सकता।

मंगल-प्रभात, १९४५; पृ॰ ५३-५४

पाँचवाँ विभाग: राजनीतिक व्यवस्था

क—सर्वोदयी राज्य

१. चरित्र आधार होगा

स्वराज्य का सच्चा अर्थ आत्म-संयम है। आत्म-संयम वही रख सकता है, जो सदाचार के नियमों का पालन करता है, किसीको धोखा नहीं देता; सत्य का त्याग नहीं करता और अपने माता-पीता, पत्नी, बच्चों, नौकरों और पड़ोसियों के प्रति अपना फर्ज़ अदा करता है। ऐसा आदमी, भले कहीं भी रहे, स्वराज्य का सुख भोगता है। जो राज्य बड़ी संख्या में इस तरह के भले नागरिकों के होने का गर्व कर सकता है, वह स्वराज्य का उपभोग करता है।

स्वराज्य[१] विशालकाय कारखाने खडे करने से प्राप्त नहीं हो सकता। सोना-चांदी इकट्ठा किया जा सकता है, मगर उससे स्वराज्य की स्थापना नहीं होगी। रस्किनने यह सोलह आने साबित कर दिया है। पाश्चात्य सभ्यता अभी निरी दूधमुँही बच्ची है। उसकी आयु केवल सौ या पचास वर्ष की है। फिर भी उसने यूरोप की दुर्दशा कर दी है। हम प्रार्थना करें कि जो हाल यूरोप का हुआ उससे भगवान भारत को बचाये। यूरोप के राष्ट्र तो एक-दूसरे पर हमला करने को तुले बैठे हैं और केवल शस्त्रास्त्र के संग्रह के कारण ही चुप हैं। किसी न किसी दिन विस्फोट होगा, और तब यूरोप पृथ्वी पर सचमुच नरक बन जाएँगा। हर यूरोपीय राज्य अ-गोरी जातियों को अपना उचित शिकार मानता है। जहाँ मनुष्यों के हृदयों में लोभ की ही प्रधानता है, वहाँ और क्या आशा रखी जा सकती है? नये भूभागों पर यूरोपीय ऐसे टूट पड़ते हैं, जैसे मांस पर चील-कौवे। मेरा यह विचार है कि इसका कारण बड़े पैमाने पर उत्पादन करनेवाले कारखाने हैं।

भारत को स्वराज्य अवश्य लेना चाहिए, लेकिन शुद्ध और पवित्र उपायों से। हमारा स्वराज्य वास्तविक स्वराज्य होना चाहिए, जो न हिंसा से प्राप्त किया जा सकता है और न उद्योगीकरण से। भारत किसी वक्त स्वर्णभूमि था, क्योंकि उस समय भारतवासियों का हृदय सोने का था। भूमि वही है, मगर रेगिस्तान है, क्योंकि हम भ्रष्ट हो गए हैं। वह फिरसे स्वर्णपूमि तभी बन सकती

है, जब हमारे वर्तमान राष्ट्रीय चरित्र की घटिया धातु स्वर्ण में बदल जाय। जिस पारस-मणि से यह परिवर्तन हो सकता है, वह दो अक्षरों का छोटासा शब्द है—सत्य। यदि प्रत्येक भारतवासी सत्य पर डटा रहे, तो स्वराज्य अपने-आप हमारे पास चला आयेगा।

(गांधीजीज़ कंक्लुज़न टु हिज़ पैराफेज़ ऑफ 'अन्टु दिस लास्ट'; पृ॰ ६१-६४)

सच्चा लोकतंत्र या जनसाधारण का स्वराज्य असत्य और हिंसापूर्ण उपायों से कभी नहीं आ सकता। इसका सीधा कारण यह है कि इनको काम में लेने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि विरोधियों का दमन या विनाश करके सारा विरोध हटा दिया जाएगा। इससे व्यक्तिगत स्वतंत्रता पनप नहीं सकती। व्यक्तिगत स्वतंत्रता विशुद्ध अहिंसा के शासन में ही पूरी तरह काम कर सकती है।

हरिजन, २७-५-१९३९

———————

१. सच्चा लोकतंत्र या जनता का राज्य अर्थात् सर्वोदय। —सं॰

२. सर्वोदयी लोकतंत्र

ऐसा समाज अनगिनत गाँवों का बना होगा। उसका फैलाव एक के ऊपर एक के ढंग का नहीं, बल्कि लहरों की तरह एक के बाद एक की शकल में होगा। जीवन मीनार की शकल में नहीं होगा, जहाँ ऊपर की तंग चोटी को नीचे के चौड़े पाये पर खड़ा रहना पड़ता है। वहाँ तो जीवन समुद्र की लहरों की तरह एक के बाद एक घेरे की शकल में होगा, जिसका केन्द्र व्यक्ति होगा। व्यक्ति गाँव के लिए और गाँव ग्राम-समूह के लिए मर मिटने को हमेशा तैयार रहेगा। इस तरह अंत में सारा समाज ऐसे व्यक्तियों का बन जाएँगा, जो अहंकार में आकर कभी किसी पर हमला नहीं करेंगे, बल्कि सदा विनीत रहेंगे और उस समुद्र के गौरव के हिस्सेदार बनेंगे, जिसके वे अविभाज्य अंग हैं।

इसलिए सबसे बाहर का घेरा अपनी शक्ति का उपयोग भीतरवालों को कुचलने में नहीं करेगा, बल्कि भीतर वाला सबको ताकत पहुंचायेगा और स्वयं उनसे बल ग्रहण करेगा। मुझ पर यह कटाक्ष किया जा सकता है कि यह सब खयाली पुलाव है और इसलिए जरा भी विचारणीय नहीं है। युक्लिड की परिभाषा का बिंदु भले ही मनुष्य खींच न सके, तो भी उसका शाश्वत मूल्य तो है। इसी तरह मेरे इस चित्र का भी मानव-जाति के जीवित रहने के लिए अपना मूल्य है। इस तसवीर तक पूरी तरह पहुँचना संभव नहीं है, फिर भी इस सही तसवीर तक पहुँचना भारत की ज़िंदगी का मकसद होना चाहिए। हमें क्या चाहिए, इसका सही चित्र तो हमारे पास होना ही चाहिए। तब हमें उससे मिलती-जुलती कोई चीज़ प्राप्त हो सकती है। यदि कभी भारत के प्रत्येक गाँव में एक-एक गणतंत्र स्थापित हुआ, तो मेरा दावा है कि मैं इस चित्र की सचाई सिद्ध कर सकूँगा—जिसमें सबसे आखिरी और सबसे पहला दोनों बराबर होंगे या दूसरे शब्दों में कहें तो न कोई पहला होगा, न आखिरी।

हरिजन, २८-७-१९४६

सच्चे लोकतंत्र का संचालन केन्द्र में बैठे हुए बीस आदमियों से नहीं हो सकता। उसका संचालन नीचे से प्रत्येक गाँव के लोगों द्वारा करना होगा।

हरिजन, १८-१-१९४८

यदि हम चाहते हैं कि स्वराज्य की रचना अहिंसा के आधार पर की जाय, तो हमें गाँवों को उनका उचित स्थान देना होगा।

हरिजन, २०-१-१९४०

३. ध्येय

अहिंसा के आधार पर खड़े स्वराज्य में कोई किसी का शत्रु नहीं होता, सभी सामान्य ध्येय के लिए अपने-अपने उचित हिस्से का काम करते हैं, सब पढ़-लिख सकते हैं और उनका ज्ञान दिनोंदिन बढ़ता रहता है। रोग और बीमारी कम से कम होती है। कोई दरिद्र नहीं होता और मज़दूरों को हमेशा काम मिल जाता है। ऐसे राज्य में जुए, शराबखोरी, दुराचार या वर्ग-द्वेष के लिए कोई स्थान नहीं होता। धनवान अपना धन बुद्धिमानी से और उपयोगी ढंग पर खर्च करेंगे; अपनी शान-शौकत और सांसारिक सुखों को बढ़ाने में उसे बरबाद नहीं करेंगे। यह नहीं होना चाहिए कि मुट्ठीभर अमीर लोग तो रत्न-जड़ित महलों में रहें और करोड़ों लोग वायु और प्रकाशहीन गंदे झोंपड़ों में रहें। हिंदू-मुस्लिम झगड़े, अस्पृश्यता और ऊँच-नीच के भारी भेद आदि बातें उसमें नहीं होनी चाहिए।

[गांधीजी द्वारा राजकोट के लोगों के नाम निकाली गई एक अपील से।]

हरिजन, २५-३-१९३९

४. हिंदुस्तानी गवर्नर

१. हिंदुस्तानी गवर्नर को चाहिए कि वह खुद पूरे संयम का पालन करे और अपने आसपास संयम का वातावरण खड़ा करे । इसके बिना शराबबंदी के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता।

२. उससे और उसके आसपास के वातावरण से यह प्रमाण मिलना चाहिए कि हाथ-कताई भारत के करोड़ों मूक लोगों के साथ तादात्म्य सिद्ध करने का तथा शरीर-श्रम की आवश्यकता का प्रत्यक्ष चिह्न है; जिस संगठित हिंसा पर आज के समाज का आधार दिखाई देता है, उसके मुकाबले में वह संगठित अहिंसा का प्रतीक है।

३. अगर गवर्नर को अच्छी तरह काम करना है, तो उसे ऐसी कुटिया में रहना चाहिए जो लोगों की निगाह से बची हुई होने पर भी सबकी पहुँच के भीतर हो। अंग्रेज गवर्नर कुदरती तौर पर अंग्रेजी ताकत का प्रतिनिधि था। उसके और उसके स्वजनों के लिए एक सुरक्षित निवासस्थान—एक महल बनाया जाता था, जिसमें वह और उसके साम्राज्य को टिकाए रखने वाले उसके बहुसंख्यक सेवक रह सकें। भारतीय गवर्नर भी कुछ शान-शौकत वाली इमारतें राजाओं और संसार के राजदूतों के स्वागत के लिए रख सकता है। गवर्नर के मेहमान बनने वाले लोगों को उसके व्यक्तित्व और आसपास के वातावरण से 'ईवन अन्टु दिस लास्ट' (सर्वोदय)—सबके साथ समान बरताव—की सच्ची शिक्षा मिलनी चाहिए। उसके लिए देशी या विदेशी महँगे फर्नीचर की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए। 'सादा जीवन और उच्च विचार' उसका आदर्श-वाक्य होना चाहिए, जो केवल उसके द्वार की शोभा न बढ़ाये, बल्कि दैनिक जीवन में कार्यान्वित हो।

४. उसके लिए किसी भी रूप में न तो अस्पृश्यता हो सकती है और न जाति, धर्म या रंग का भेद हो सकता है। वह समस्त धर्मों और पूर्व या पश्चिम की सब बातों के उत्तम तत्त्वों का प्रतिनिधि हो। भारत का नागरिक होने के कारण उसे संसार का नागरिक होना चाहिए। हम पढ़ते हैं कि खलीफा उमर, जिनके चरणों में दुनिया की दौलत लोटती थी, इसी प्रकार

सादगी से रहते थे; इसी तरह का जीवन प्राचीन काल में राजा जनक का था। मैंने देखा कि एटन के आचार्य अपने घरमें ब्रिटिश टापुओं के उमरावों और नवाबों के लड़कों के बीच और उनसे धिरे हुए इसी तरह सादगी से जीवन बिताते थे। तब क्या करोड़ों भूखे भारतीयों के गवर्नर सादगी से नहीं रहेंगे?

५. वह जिस प्रांत का गवर्नर होगा, उसकी भाषा और नागरी या उर्दू लिपि में लिखी जानेवाली राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी बोलेगा। वह न तो संस्कृतमयी हिंदी है और न फारसी-प्रधान उर्दू। हिंदुस्तानी अवश्य ही वह भाषा है, जो विंद्य पर्वतमाला के उत्तर में करोड़ों लोगों द्वारा बोली जाती है।

एक भारतीय गवर्नर में जो गुण होने चाहिए, उन सबकी यह पूरी सूची नहीं है। यह तो केवल दृष्टांत के लिए है।

हरिजन, २४-८-१९४७

५. राजनीतिक सत्ता

मेरी दृष्टी में राजनीतिक सत्ता कोई साध्य नहीं है, परंतु जीवन के प्रत्येक विभाग में लोगों के लिए अपनी हालत सुधार सकने का एक साधन है। राजनीतिक सत्ता का अर्थ है राष्ट्रीय प्रतिनिधियों द्वारा राष्ट्रीय जीवन का नियमन करने की शक्ति। अगर राष्ट्रीय जीवन इतना पूर्ण हो जाता है कि वह स्वयं आत्म-नियमन कर ले, तो किसी प्रतिनिधित्व की आवश्यकता नहीं रह जाती। उस समय ज्ञानपूर्ण अराजकता की स्थिति हो जाती है। ऐसी स्थिति में हरएक अपना राजा होता है। वह इस ढंग से अपने पर शासन करता है कि अपने पड़ोसियों के लिए कभी बाधा नहीं बनता। इसलिए अवस्था में कोई राजनीतिक सत्ता नहीं होती, क्योंकि कोई राज्य नहीं होता। परंतु जीवन में आदर्श की पूरी सिद्धि कभी नहीं होती। इसीलिए थोरोने कहा है कि सबसे कम शासन करे वही उत्तम सरकार है।

यंग इंडिया, २-७-१९३१

मैं राज्य की सत्ता की वृद्धि को बहुत ही भय की दृष्टि से देखता हूँ। क्योंकि जाहिरा तौर पर तो वह शोषण को कम से कम करके लाभ पहुँचाती है; परंतु मनुष्य के व्यक्तित्व को नष्ट करके वह मानव-जाति को बड़ी से बड़ी हानि पहुँचाती है, जो सब प्रकार की उन्नति की जड़ है।

राज्य केन्द्रित और संगठित रूप में हिंसा का प्रतीक है। व्यक्ति के आत्मा होती है, परंतु चूँकि राज्य एक आत्मा-रहित मशीन होता है, इसलिए उससे हिंसा कभी नहीं छुड़वाई जा सकती; उसका अस्तित्व ही हिंसा पर निर्भर है।

मेरा यह पक्का विश्वास है कि अगर राज्य हिंसा से पूंजीवाद को दबा देगा, तो वह स्वयं हिंसा की लपेट में फँस जाएगा और किसी भी समय अहिंसा का विकास नहीं कर सकेगा।

मैं स्वयं तो यह अधिक पसंद करूँगा कि राज्य के हाथों में सत्ता केन्द्रित न करके ट्रस्टीशिप की भावना का विस्तार किया जाए। क्योंकि मेरी राय में व्यक्तिगत स्वामित्व की हिंसा राज्य की हिंसा से कम हानिकारक है। किंतु अगर यह अनिवार्य हो, तो मैं कम से कम राजकीय स्वामित्व का समर्थन करूँगा।

मुझे जो बात नापसंद है वह है बलके आधार पर बना हुआ संगठन, और राज्य ऐसा ही संगठन है। स्वेच्छापूर्ण संगठन ज़रूर होना चाहिए।

मोडर्न रिव्यू, १९३५; पृ॰ ४१२

मैंने जिस लोकतंत्र—अहिंसा द्वारा स्थापित लोकतंत्र—की कल्पना की है, उसमें सबके लिए समान स्वतंत्रता होगी। हरएक अपना स्वामी होगा।

गांधीजीज़ कोरस्पोन्डन्स विथ दि गवर्नमेंट, १९४२-४४; पृ॰ १७३

६. स्वशासन

जैसे हर देश खाने, पीने और साँस लेने के योग्य है, वैसे ही प्रत्येक राष्ट्र अपना प्रबंध आप करने के योग्य है, चाहे वह प्रबंध कितना ही खराब हो।

यंग इंडिया, १५-१०-१९३१

स्वशासन का अर्थ है सरकारी नियंत्रण से स्वतंत्र होने का सतत प्रयत्न, फिर सरकार विदेशी हो चाहे राष्ट्रीय। स्वराज्य-सरकार एक हास्यास्पद चीज़ बन जाएँगी, अगर जीवन की हर छोटी बात के नियमन के लिए लोग उसके मुँह की तरफ़ देखने लगें।

यंग इंडिया, ६-८-१९२५

स्वराज्य से मेरा मतलब भारत के लोगों की स्वीकृति से होने वाले शासन से है। वह स्वीकृति बालिग आबादी की बड़ी से बड़ी संख्या द्वारा निश्चित होनी चाहिए और उसमें देश में पैदा हुए या बाहर से आकर बसे हुए वे सब स्त्री-पुरुष शामिल होने चाहिए, जिन्हों ने शरीर-श्रम द्वारा राज्य की सेवा में भाग लिया हो और अपना नाम मतदाताओं की सूची में लिखवाने का कष्ट उठाया हो। मैं यह दिखा देने की आशा रखता हूँ कि स्वराज्य चंद आदमियों के सत्ता प्राप्त करने से नहीं आयेगा, परंतु सत्ता का दुरुपयोग होने पर उसका मुकाबला करने की सब में क्षमता उत्पन्न होने से आयेगा। दूसरे शब्दों में, स्वराज्य जनसाधारण को सत्ता का नियमन और नियंत्रण करने की उनकी शक्ति का भान कराने से प्राप्त होगा।

यंग इंडिया, २९-१-१९२५

राजनीतिक स्वाधीनता से मेरा मतलब यह नहीं कि ब्रिटिश पार्लियामेन्ट या रूस के सोवियट शासन या इटली के फासिस्ट राज्य या जर्मनी की नाजी हकूमत की नकल की जाए। उनकी प्रणालियाँ उनकी प्रकृति के अनुकूल हैं। हमें अपनी प्रकृति के अनुकूल प्रणाली अपनानी चाहिए। वह क्या हो सकती है, यह बताना मेरे बूते की बात नहीं। मैंने उसे रामराज्य कहा है, अर्थात् उसमें शुद्ध नैतिक सत्ता के आधार पर आम जनता की सर्वोपरि सत्ता होगी।

हरिजन, २-१-१९३७

७. अल्पसंख्यकों का अधिकार

बहुमत के नियम का संकुचित उपयोग है, अर्थात् तफसील की बातों में बहुमत को मानना चाहिए। लेकिन बहुमत जो भी निर्णय कर दे, उसे मानना दासता है। लोकतंत्र ऐसी रचना नहीं है, जिसमें लोग भेड़ों की तरह आचरण करें। लोकतंत्र में व्यक्ति के विचारों और कार्य की स्वतंत्रता की सावधानी से रक्षा की जाती है। इसलिए मेरा विश्वास है कि अल्पमत जब तक काँग्रेस के नाम पर काम नहीं करता, तब तक उसे बहुमत से भिन्न आचरण करने का पूरा हक है।

यंग इंडिया, २-३-१९२२

अंतरात्मा से संबंध रखने वाली बातों में बहुमत के कानून का कोई स्थान नहीं।

यंग इंडिया, ४-८-१९२०

८. मताधिकार

गांधीजी २१ वर्ष या १८ वर्ष से भी ऊपर के सभी बालिग स्त्री-पुरुषों के मताधिकार के पक्ष में हैं। वे अपने जैसे बूढ़े आदमियों को इससे वंचित रखना चाहते हैं। वे लोग मतदाताओं के रूप में निकम्मे हैं। भारत और शेष संसार उनके लिए नहीं है, जो मौत के किनारे बैठे हैं। उनके लिए मृत्यु है और युवकों के लिए जीवन। इस प्रकार जैसे वे १८ वर्ष से कम के युवक-युवतियों के लिए मनाही करना चाहते हैं, वैसे ही ५० वर्ष से ऊपर की उम्र वालों के लिए भी मनाही करना चाहते हैं।

बालिग मताधिकार के साथ-साथ या उससे भी पहले वे सबकी शिक्षा के पक्ष में हैं। यह ज़रूरी नहीं कि शिक्षा साहित्य की ही हो। वह पूरक के रूप में दी जा सकती है। लेकिन वे सबको उन संपन्न भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान देना चाहते हैं, जिन पर किसी भी देश को गर्व हो सकता हैं। हम में ईमानदारी और लगन हो तो नागरिकता के अधिकारों को समझने की शिक्षा थोड़े दिनों का काम है।

हरिजन, २-३-१९४७

९ प्रांतीयता

गांधीजी की राय है कि सब प्रांतों के लोग भारत के हैं और भारत सबका है। शर्त एक ही है कि कोई दूसरे प्रांत में जाकर इसलिए नहीं बस सकता कि उसका शोषण करे, उस पर शासन करे या उसके हितों को किसी प्रकार हानि पहुँचाये। सब भारत के सेवक हैं और सेवा की भावना से ही रहते है।

हरिजन, ७-९-१९४७

जो गैर-बिहारी बिहार में बसता है, उसे बिहार की सेवा के लिए ही ऐसा करना चाहिए, न कि उसका शोषण करने के लिए।

सरकारी नौकरियों का क्या हो? ऐसा लगता है कि अगर सभी प्रांतों को सब दिशाओं में समान प्रगति करनी हो, तो सरकारी नौकरियाँ, सारे भारत की तरक्की के खयाल से, अधिकतर संबंधित प्रांतों के निवासियों के लिए सीमित होनी चाहिए।

बाहर से आकर किसी भी प्रांत में बसने वाले लोगों के बारे में गांधीजी ने कहा: अवश्य ही उन्हें विदेशियों की भाँति अपनी अलग बस्ती नहीं बना लेनी चाहिए। 'रोम में रोम वालों की तरह रहो' यह कहावत जहाँ तक रोमन बुराइयों से दूर रहती है, वहाँ तक समझदारी से भरी और फायदा पहुँचाने वाली है। धीरे-धीरे एक-दूसरे के साथ धुलमिल जाने की क्रिया में बुरी बातें छोड़ देने और अच्छी बातें पचा लेने का ध्यान रखना चाहिए। मैं बंगाल में रहनेवाला गुजराती होऊँ, तो बंगाल में जो भी अच्छाई है वह सब मुझे तुरंत हजम कर लेनी चाहिए और जो बुराई है उसे कभी छूना भी नहीं चाहिए। मुझे सदा बंगाल की सेवा करनी चाहिए। स्वार्थी बन कर कभी उसका शोषण नहीं करना चाहिए। दूसरों से बिलकुल अलग रहने वाली हमारी प्रांतीयता जीवन को बरबाद करने वाली चीज़ है। मेरी कल्पना के प्रांत की सीमा सारे भारत की सीमा तक फैली हुई होगी, ताकि अंत में उसकी सीमा विश्व की सीमा तक फैल जाए। अन्यथा उसका नाश हो जाएँगा।

हरिजन, २१-९-१९४७

१०. राज्य धर्म-निरपेक्ष हो

बेशक, राज्य को धर्म-निरपेक्ष होना चाहिए। उसमें रहने वाले हर नागरिक को बिना किसी रुकावट के अपना धर्म मानने का हक होना चाहिए, जब तक वह देश के आम कानून को मानता हो।

हरिजन, २४-८-१९४७

ख—उसके वैदेशिक संबंध

१. ब्रिटेन के साथ साझेदारी

मैं तो ब्रिटेन के साथ बराबरी का साझीदार बनकर उसके सुख-दुःख में शरीक होना पसंद करूँगा। मगर वह साझा समानता के आधार पर होना चाहिए।

प्र॰—क्या आपके विचार से भारत अपने भाग्य को ब्रिटेन के साथ अविच्छेद्य रूप से मिला देगा?

उ॰—हाँ, जब तक वह साझीदार रहेगा। परंतु यदि उसे यह पता चले कि यह साझेदारी दानव और वामन के बीच की साझेदारी है या संसार की दूसरी जातियों के शोषण के लिए इसका उपयोग होता है, तो वह इसे भंग कर देगा। ध्येय यह है कि पृथ्वी के तमाम राष्ट्रों का एक-सा कल्याण हो; और अगर वह सिद्ध नहीं हो सकता, तो मुझ में इतना धीरज है कि किसी भी तरह अस्वाभाविक साझेदारी का नाता जोड़ लेने के बजाय मैं युगों तक प्रतीक्षा करता रहूँ।

यंग इंडिया, १२-११-१९३१

साझेदारी का यह अर्थ होना चाहिए कि शोषण बंद हो जाएँगा। और अगर ग्रेट ब्रिटेन उसे बंद न करे, तो भारत को यह संबंध तोड़ देना चाहिए।

दक्षिण अफ्रीका के उपनिवेशक के बारे में क्या हो? मैं हमारी साझेदारी के लिए पहले से इस शर्त का आग्रह नहीं करूँगा कि ब्रिटेन उसके साथ अपने संबंधों में कायापलट कर ले। परंतु मैं उन दक्षिण अफ्रीकी जातियों की मुक्ति के लिए अवश्य कोशिश करूँगा, जिनके लिए मैं अनुभव से कह सकता हूँ कि वे शोषण की चक्की में पिसी जा रही है। हमारी मुक्ति का अर्थ उनकी मुक्ति होना चाहिए। परंतु यह न हो सके तो मुझे ब्रिटेन के साथ साझेदारी का संबंध कायम करने में कोई दिलचस्पी नहीं होगी, भले उससे भारत का लाभ ही होता हो। व्यक्तिगत रूप में मैं कहूँगा कि जिस साझीदारी में शोषण-मुक्त संसार का बचन दिया गया होगा, वह मेरे राष्ट्र के लिए गौरव की

वस्तु होगी और मैं सदा उसे कायम रखूँगा। परंतु भारत शोषण की किसी भी नीति से किसी तरह सहमत नहीं होगा।

यंग इंडिया, १९-११-१९३१

२. दूसरे राष्ट्रों के साथ संबंध

मेरे देशप्रेम में दूसरे देशों के बहिष्कार का भाव नहीं है। इसका उद्देश्य इतना ही नहीं है कि किसी दूसरे राष्ट्र को हानि न पहुँचाई जाय, प्रत्युत यह भी है कि सच्चे अर्थ में सबको लाभ पहुँचाया जाय। मेरी कल्पना की भारत की स्वतंत्रता संसार के लिए कभी खतरा नहीं बन सकती।

यंग इंडिया, ३-४-१९२४

मैं भारत को स्वतंत्र और बलशाली इसलिए देखना चाहूँगा कि दुनिया की भलाई के लिए वह अपना स्वेच्छापूर्ण और शुद्ध बलिदान दे सके। शुद्ध होने पर व्यक्ति परिवार के लिए, परिवार गाँव के लिए, गाँव जिले के लिए, जिला प्रांत के लिए, प्रांत राष्ट्र के लिए और राष्ट्र सारे संसार के लिए अपने को कुर्बान करता है।

यंग इंडिया, १७-९-१९२५

पूर्ण स्वराज्य की मेरी कल्पना अलग-अलग स्वतंत्रता की नहीं, बल्कि स्वस्थ और गौरवपूर्ण परस्परावलम्बन की है।

यंग इंडिया, २६-३-१९३१

स्वराज्य के जरिए हम सारे विश्व की सेवा करेंगे।

यंग इंडिया, १६-४-१९३१

राज्य द्वारा बनाई गई सीमाओं के बाहर अपने पड़ोसियों की सेवा करने की कोई मर्यादा नहीं है। ईश्वर ने उन सीमाओं का कभी निर्माण नहीं किया।

यंग इंडिया, ३१-१२-१९३१

३. आंतरराष्ट्रीय शांतिसंघ

आंतरराष्ट्रीय संघ तभी बनेगा जब उसे बनाने वाले छोटे-बड़े सभी राष्ट्र पूर्ण स्वतंत्र हों। जिस हद तक संबंधित राष्ट्रों ने अहिंसा को पचा लिया होगा, उसी हद तक वे स्वतंत्र होंगे। एक बात निश्चित है। अहिंसा के आधार पर निर्मित समाज में छोटे से छोटा राष्ट्र अपने को बड़े से बड़ा महसूस करेगा। ऊँच-नीच का विचार बिलकुल मिट जाएँगा।

हरिजन, ११-२-१९३९

प्र॰—क्या आपको यह संभावना दिखाई देती है कि संसार एक केन्द्रीय शासन-संस्था के अधीन एक हो जाएँगा, जिसमें सब सदस्य-राष्ट्रों के प्रतिनिधि होंगे?

उ॰—इसी एक शर्त पर तो दुनिया जिंदा रह सकती है।

हरिजन, ८-६-१९४७

छठा विभाग: बुराई का विरोध

क—सत्याग्रह की पद्धति

१. प्रेम का प्याला

तलवार को छोड़ देने के बाद मेरे पास प्रेम के प्याले के सिवा और कोई चीज़ नहीं, जिसे मैं अपने विरोधियों के सामने पेश कर सकूँ। वह प्रेम का प्याला पेश करते ही मैं उन्हें अपने नज़दीक लाने की आशा रखता हूँ।

यंग इंडिया, २-४-१९३१

मेरा ध्येय सारी दुनिया के साथ मित्रता का संबंध कायम करना है और मैं बड़े से बड़े प्रेम के साथ अन्याय के बड़े से बड़े विरोध का मेल बैठा सकता हूँ।

यंग इंडिया, १०-३-१९२०

'दुष्टता के विरुद्ध सब प्रकार की सच्ची लड़ाई का परित्याग' अहिंसा नहीं है। इसके विपरीत, मेरी कल्पना की अहिंसा प्रतिशोध की अपेक्षा अधिक सक्रिय और दुष्टता के खिलाफ सच्ची लड़ाई है, क्योंकि प्रतिशोध कुदरती तौर पर दुष्टता को बढ़ाता है। मेरा इरादा अनाचारों का मानसिक और इसलिए नैतिक विरोध करने का है। मैं अत्याचारी की तलवार को बिलकुल भोंथरी कर देना चाहता हूँ। यह काम मैं तुलना में अधिक तेज़ तलवार का उपयोग करके नहीं, बल्कि उसे इस बात में निराश करके करूँगा कि मैं उसका शारीरिक विरोध करनेवाला हूँ। मैं आत्मा द्वारा जो प्रतिरोध करूँगा वह उसे धबड़ा देगा। पहले तो उसे इससे चकाचौंध होगी और अंत में वह उसे मान लेने को मज़बूर हो जाएगा; ऐसा करके वह जलील नहीं होगा, बल्कि ऊँचा उठेगा।

यंग इंडिया, ८-१०-१९२५

२. सत्याग्रह

सत्याग्रह में विरोधी को हानि पहुँचाने की जरा भी कल्पना नहीं है। सत्याग्रह का नियम यह है कि स्वयं कष्ट उठाकर विरोधी पर विजय प्राप्त की जाए।

('साबरमती'—१३ से १५ जनवरी, १९२८ को साबरमती में हुए आंतरराष्ट्रीय फेलोशिप संघ के संमेलन की रिपोर्टसे; पृ॰ १७९)

क्रोध या द्वेषरहित कष्ट-सहन के सूर्योदय के सामने कठोर से कठोर हृदय और घोर से घोर अज्ञान भी विलीन हो जाएँगा।

यंग इंडिया, १९-२-१९२५

सक्रिय अहिंसा का अर्थ ज्ञानपूर्वक कष्ट-सहन है। इसका मतलब यह नहीं कि दुराचारी की मरजी के सामने चुपचाप गरदन झुका दी जाय, परंतु इसका मतलब यह है कि अत्याचारी की मरजी के विरुद्ध अपनी आत्मा की सारी शक्ति को लगा दिया जाए। जीवन के इस धर्म का आचरण करते हुए एक अकेले व्यक्ति के लिए भी यह संभव है कि वह अपने सम्मान, अपने धर्म और अपनी आत्मा की रक्षा के लिए एक अन्यायी साम्राज्य की सारी ताकत का मुकाबला करे और उस साम्राज्य के पतन या पुनरुद्धार की बुनियाद डाले।

यंग इंडिया, ११-८-१९२०

सत्याग्रही का मार्ग साफ़ है। उसे सब प्रकार की विरोधी धाराओं के बीच अचल खड़ा रहना चाहिए। न उसे अंधी कट्टरता के प्रति अधीर होना चाहिए और न दबे हुए लोगों के अविश्वास पर चिढ़ना चाहिए। उसे जानना चाहिए कि उसका कष्ट-सहन कट्टर से कट्टर धर्मांध के कठोर से कठोर हृदय को भी पिघला देगा। उसे मालूम होना चाहिए कि जब राहत की थोड़ी भी आशा नहीं होगी, तब कहीं से राहत मिल जाएँगी। कारण, निर्दय-दयालु भगवान की ऐसी ही लीला है कि वह अपने भक्तों को आग की भट्टी में झोंककर उनकी परीक्षा लेता है और उन्हें धूल के समान नम्र बनाने में उसे आनंद आता है।

यंग इंडिया, ४-६-१९२५

३. कायरता की गुंजाइश नहीं

मेरा अहिंसा-धर्म एक सक्रिय बल है। इसमें कायरता की या दुर्बलता की भी गुंजाइश नहीं है। किसी हिंसक मनुष्य के किसी दिन अहिंसक बनने की आशा हो सकती है, मगर बुजदिल के लिए ऐसी कोई आशा नहीं होती। इसलिए मैंने इस पत्र में अनेक बार कहा है कि यदि हमें कष्ट-सहन की शक्ति से अर्थात् अहिंसा से अपनी स्त्रियों की और अपने पूजा स्थानों की रक्षा करना नहीं आता, तो हममें—अगर हम मर्द हैं—कम से कम लड़कर इन सबकी रक्षा करने की शक्ति तो होनी चाहिए।

यंग इंडिया, १६-६-१९२७

बचाव के दो रास्ते हैं। सबसे अच्छा और सबसे कारगर तो यह है कि बिलकुल बचाव न किया जाए, बल्कि अपनी जगह पर कायम रहकर हर तरह के खतरे का सामना किया जाए। दूसरा उत्तम और उतना ही सम्मानपूर्ण तरीका यह है कि आत्मरक्षा के लिए बहादुरी से शत्रु पर प्रहार किया जाय और अपने जीवन को बड़े से बड़े खतरे में डाला जाए।

यंग इंडिया, १८-१२-१९२४

अहिंसा और कायरता का कोई मेल नहीं है। में पूरी तरह शस्त्र सज्जित मनुष्य के हृदय से कायर होने की कल्पना कर सकता हूँ। हथियार रखना कायरता नहीं तो कुछ डर का होना तो जाहिर करता ही है। परंतु सच्ची अहिंसा शुद्ध निर्भयता के बिना असंभव है।

हरिजन, १५-७-१९३९

मैं यह ज़रूर मानता हूँ कि जहाँ केवल कायरता और हिंसा के बीच ही चुनाव करना हो, वहाँ मैं हिंसा की सलाह दूँगा। मैं चाहूँगा कि भारत अपनी इज्जत की रक्षा करने के लिए भले ही शस्त्रों का आश्रय ले, मगर कायर बनकर अपनी बेइज्जती का निःसहाय साक्षी न बने या न रहे।

परंतु मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से कहीं श्रेष्ठ है, क्षमा में सजा से अधिक बहादुरी है। क्षमा वीर का भूषण है। परंतु दण्ड देने की शक्ति होने पर भी दण्ड न देना सच्ची क्षमा है। जब

कोई निःसहाय प्राणी क्षमा करने का दंभ करता है तब वह निरर्थक है। परंतु मैं भारत को निःसहाय नहीं मानता। बल शारीरिक क्षमता से नहीं आता। वह अजेय संकल्प-शक्ति से आता है।

यंग इंडिया, ११-८-१९२०

४. दबाव नहीं

सत्याग्रही का अन्यायी को परेशान करने का इरादा कभी नहीं होता। वह उसे डराना भी नहीं चाहता; हमेशा उसके हृदय से अपील करता है। यही होना भी चाहिए। सत्याग्रही का उद्देश्य अन्याय करने वाले को दबाना नहीं, बल्कि उसका हृदय-परिवर्तन करना होता है। उसे अपने तमाम कामों में कृत्रिमता से बचना चाहिए। वह स्वाभाविक रूप में और भीतरी विश्वास से कर्म करता है।

हरिजन, २५-३-१९३९

ज्यों ही हम वस्तुओं के बारे में उसी प्रकार विचार करने लगते है जैसे हमारे विरोधी करते हैं, त्यों ही हम उनके साथ पूरा न्याय करने की स्थिति में आ जाते हैं। में जानता हूँ कि इसके लिए अनासक्त मनोदशा की आवश्यकता होती है और यह अवस्था प्राप्त करना बहुत कठिन है। फिर भी सत्याग्रही के लिए यह नितांत आवश्यक है। अगर हम खुद को अपने शत्रु की स्थिति में रखकर उसके दृष्टिकोण को समझें, तो संसार के तीन-चौथाई दुःख-दर्द और गलतफहमियाँ मिट जाए। तब या तो हम अपने शत्रु के साथ जल्दी सहमत हो जाएँगे या उसके बारे में उदारतापूर्वक विचार करेंगे।

मैंने देखा है कि जहाँ पूर्वग्रह युगों पुराने और कल्पित धार्मिक प्रमाणों के आधार पर खड़े होते हैं, वहाँ केवल बुद्धि को अपील करने से काम नहीं चलता। बुद्धि को कष्ट-सहन का बल अवश्य मिलना चाहिए और कष्ट-सहन से समझ की आँखे खुलती है। इसलिए हमारे कामों में ज़बरदस्ती का लवलेश भी नहीं होना चाहिए। हमें अधीर नहीं बनना चाहिए; और हम जिन साधनों को अपना रहे हैं, उनमें हमारी अटल श्रद्धा होनी चाहिए।

यंग इंडिया, ११-३-१९२५

हमारा आदर्श यह होना चाहिए कि विरोधी को प्रेमपूर्वक समझा कर और हमेशा उसके दिल और दिमाग पर असर डालकर उसका हृदय-परिवर्तन किया जाए। इसलिए हमें उन लोगों के प्रति, जो हमसे सहमत न हों, सदा शिष्टता और धीरज का बरताव करना चाहिए।

यंग इंडिया, २९-९-१९२१

सत्याग्रही भय को सदा के लिए तिलांजलि दे देता है। इसलिए विरोधी पर विश्वास करने में वह कभी नहीं डरता। विरोधी उसे बीस बार धोखा दे तो भी सत्याग्रही उस पर इक्कीसवीं बार भरोसा करने को तैयार रहता है; क्योंकि मानव-स्वभाव में संपूर्ण विश्वास रखना उसके अहिंसा-धर्म का प्राण है।

('साबरमती'—साबरमती आश्रम में हुए आंतरराष्ट्रीय फेलोशिप संघ के संमेलन की १९२८ की रिपोर्टसे; पृ॰ २४६)

५. सत्याग्रह का बल कैसे बढ़ता है

विश्वास की शक्ति ऐसी है कि अंत में मनुष्य वैसा ही बन जाता है जैसा वह अपने को समझता है। अगर हम सत्याग्रही हैं और अपने को बलवान मानकर सत्याग्रह करते हैं, तो इसके दो स्पष्ट परिणाम निकलते हैं। बलके विचार को पोषित करते हुए हम दिनोंदिन अधिक बलवान बनते हैं। हमारी शक्ति में वृद्धि होने के कारण हमारा सत्याग्रह भी अधिक कारगर बन जाता है और हम उसे छोड़ देने का मौका कभी नहीं ढूँढ़ते।

साबरमती, पृ॰ १७८

अनुभव ने मुझे सिखाया है कि क्रमिक वृद्धि का कानून प्रत्येक पवित्र युद्ध पर लागू होता है। परंतु सत्याग्रह के मामले में तो वह स्वयंसिद्ध सत्य है। जैसे जैसे सत्याग्रह-संग्राम आगे बढ़ता है, वैसे वैसे बहुत से दूसरे तत्त्व उसका जोर बढ़ाने में मदद देते रहते हैं, और उसके जो परिणाम आते हैं उनकी सतत वृद्धि होती रहती है। वास्तव में यह अनिवार्य है और सत्याग्रह के प्रथम सिद्धांतों से इसका चोली-दामन का संबंध है। कारण, सत्याग्रह में अल्पतम अधिकतम भी होता है और चूँकि वह कभी घट न सकने वाला अल्पतम होता है, इसलिए पीछे हटने का सवाल ही नहीं होता; कोई गति संभव हो तो वह केवल आगे ही बढ़ने की हो सकती है। दूसरे युद्धों में—भले वे पवित्र और अच्छे ध्येय के लिए लड़े जाते हों—हमारी माँग सही हो तो भी वह पहले जरा बढ़ाकर रखी जाती है, ताकि आगे चलकर उसे घटाने की गुंजाइश रहे; इसलिए उन सब पर निरपवाद रूप से क्रमिक वृद्धि का कानून लागू नहीं होता।

साबरमती, पृ॰ ३१९

६. सत्याग्रहियों के लिए नियम

१. सत्याग्रहियों में सामान्य ईमानदारी अवश्य होनी चाहिए।

२. उन्हें अपने सेनापति के आदेशों का दिल से पालन करना चाहिए; कोई बात मन में छिपाकर नहीं रखनी चाहिए।

३. उन्हें न सिर्फ अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता, न केवल अपनी संपत्ति, जमीन, नकद पैसा वगैरा ही, बल्कि अपने घर वालों की आज़ादी और संपत्ति—सब कुछ खोने को तैयार रहना चाहिए; और गोलियों, संगीनों या उत्पीड़न द्वारा धीरे-धीरे मृत्यु तक का प्रसन्नतापूर्वक सामना करने की उनकी तैयारी रहनी चाहिए।

४. उन्हें 'शत्रु' के प्रति या आपस में मन, वचन या कर्म से कोई हिंसा का भाव नहीं रखना चाहिए।

हरिजन, २२-१०-१९३८

७. नम्रता

असहयोगी अगर नम्र नहीं है तो कुछ नहीं है। जो नम्रता और धर्म की भावना से थोड़ा सा त्याग करता है, वह उसकी अल्पता को जल्दी ही अनुभव कर लेता है। एक बार त्याग के मार्ग पर अग्रसर हो जाने पर हम अपनी स्वार्थ-परायणता की मात्रा का पता लगा लेते है; और फिर हमें लगातार अधिक बलिदान करते रहना चाहिए और जब तक संपूर्ण आत्म-समर्पण न हो जाए तब तक संतोष नहीं मानना चाहिए।

यंग इंडिया, २९-९-१९२१

८. उपवास

आमरण अनशन सत्याग्रह के कार्यक्रम का अभिन्न अंग है और खास परिस्थितियों में वही सत्याग्रह के शस्त्रागार का सबसे बड़ा और रामबाण शस्त्र है। लेकिन अच्छी तरह तालीम पाये बिना हर कोई ऐसा अनशन करने के योग्य नहीं होता।

मैं उन परिस्थितियों का, जिन में उपवास का आश्रय लिया जा सकता है, और उसके लिए ज़रूरी तालीम का विवेचन करके इस लेखको बढ़ाना नहीं चाहता। परोपकार के अपने रचनात्मक अर्थ में (मैं 'प्रेम' शब्द काम में नहीं ला रहा हूँ, क्योंकि वह बदनाम हो गया है) अहिंसा सबसे बड़ी शक्ति है, क्योंकि उसमें अन्यायी को कोई शारीरिक या भौतिक हानि पहुँचाए बिना या पहुँचाने का इरादा रखे बिना आत्म-पीड़न की बेहद गुंजाइश रहती है। इस आत्म-पीड़न का लक्ष्य सदा यह रहता है कि इसके द्वारा अन्यायी के उत्तम गुणों को जगाया जाय। आत्म-पीड़न से उसके दैवी स्वभाव को जगाया जाता है, जब कि प्रतिशोध उसकी आसुरी वृत्तियों को जगाता है। उचित परिस्थितियों में उपवास इस प्रकार की उत्तम अपील का काम देता है। अगर राजनीतिज्ञों को राजनीतिक मामलों में इसकी उपयोगिता दिखाई नहीं देती, तो इसका कारण यह है कि इस बहुत बढ़िया हथियार का यह अनोखा प्रयोग है।

हरिजन, २६-७-१९४२

अहिंसा के पुजारी के शस्त्रागार में उपवास आखिरी हथियार है। जब मानव-बुद्धि काम नहीं देती, तब वह उपवास करता है। उपवास से प्रार्थना की वृत्ति तेज़ी से जाग्रत होती है, अर्थात् उपवास एक आध्यात्मिक कर्म है और इसलिए उसका रुख ईश्वर के प्रति होता है। लोगों के जीवन पर ऐसे कर्म का प्रभाव यह होता है कि अगर उपवास करने वाला उनका परिचित हो, तो उनका सोया हुआ अंतःकरण जाग उठता है। परंतु इसमें यह खतरा रहता है कि लोग अपने प्रियजन की जान बचाने के लिए गलत सहानुभूति में अपनी इच्छा के विरुद्ध कार्रवाई कर सकते हैं। इस खतरे का सामना करना पड़ेगा। जब हमें अपने सही रास्ते पर होने का विश्वास हो, तो हमें सही कर्म करने से विचलित नहीं होना चाहिए। उससे केवल सावधानी ही बढ़ सकती है। इस प्रकार का

उपवास अंत:करण की आज्ञा को मानकर किया जाता है और इसलिए उसमें जल्दबाज़ी का डर कम होता है।

हरिजन, २१-१२-१९४७

९. धरना न दिया जाय

कुछ विद्यार्थियों ने धरना देने के पुराने जंगलीपन को फिर से जिंदा किया है। मैं इसे 'जंगलीपन' इसलिए कहता हूँ कि यह दबाव डालने का भद्दा ढंग है। इसमें कायरता भी है, क्योंकि जो धरना देता है वह जानता है कि उसे कुचलकर कोई नहीं जाएगा। इस कृत्य को हिंसात्मक कहना तो कठिन है, मगर यह उससे भी बदतर ज़रूर है। अगर हम अपने विरोधी से लड़ते हैं, तो कम से कम उसे बदले में वार करने का मौका तो देते हैं। लेकिन जब हम उसे अपने को कुचलकर निकलने की चुनौती देते हैं—यह जानते हुए कि वह ऐसा नहीं करेगा—तब हम उसे एक अत्यंत विषम और अपमानजनक स्थिति में रख देते हैं। मैं जानता हूँ कि धरना देने के अत्यधिक जोश में विद्यार्थियों ने कभी सोचा भी नहीं होगा कि यह कृत्य जंगलीपन है। परंतु जिससे यह आशा की जाती है कि वह अंत:करण की आवाज़ पर चलेगा और भारी विपत्तियों का अकेले दम सामना करेगा, वह विचारहीन नहीं बन सकता। इसलिए असहयोगियों को हर काम में पहले से ही सचेत रहना चाहिए। उनके काम में कोई अधीरता, कोई जंगलीपन, कोई गुस्ताखी और कोई अनुचित दबाव नहीं होना चाहिए।

यंग इंडिया, २-२-१९२१

१०. ज़बरदस्ती या असहिष्णुता नहीं

हमारा अत्याचार, अगर हम अपनी इच्छा दूसरों पर लादें, उन मुट्ठीभर अंग्रेजों के अत्याचार से हजार गुना खराब होगा, जिन्होंने नौकरशाही को जन्म दिया है। उनका आतंकवाद एक ऐसे अल्पमत का लादा हुआ है, जो विरोध के बीच में अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता है। हमारा आतंकवाद बहुमत का लादा हुआ होगा, इसलिए वह उससे ज़्यादा बुरा और सचमुच ज़्यादा दानवी होगा। इसलिए हमें अपने संग्राम में से हर प्रकार की ज़बरदस्ती को निकाल देना चाहिए। अगर हम असहयोग के सिद्धांत पर स्वतंत्रतापूर्वक डटे रहने वाले थोड़े ही लोग हों, तो हमें दूसरों को अपने विचार का बनाने की कोशिश में मरना पड़ सकता है। मगर यह तो कहा जाएगा कि हमने अपने पक्ष का बचाव और प्रतिनिधित्व सचाई के साथ किया। लेकिन अगर हम अपने झंडे के नीचे दबाव से लोगों की भरती करेंगे, तो हम अपने ध्येय से और ईश्वर से इनकार करेंगे; और अगर हम थोड़े समय के लिए इसमें कामयाब भी होते दिखाई दें, तो भी यही कहा जाएगा कि हमने ज़्यादा बुरा आतंकवाद कायम करने में कामयाबी हासिल की है।

अगर हम असहिष्णुता से दूसरों के मत का दमन करेंगे, तो हमारा पक्ष पिछड़ जाएँगा। कारण, उस सूरत में हमें यह कभी मालूम नहीं हो पाएगा कि कौन हमारे साथ है और कौन हमारे विरुद्ध। इसलिए सफलता की अपरिहार्य शर्त यह है कि हम अधिक से अधिक मत-स्वातंत्र्य को प्रोत्साहन दें। अपने मौजूदा 'स्वामियों' से हमें कम से कम इतना सबक तो सीख ही लेना चाहिए। उनके जाब्ता फौज़दारी में उनके खिलाफ राय रखने के लिए सख्त सजाएँ रखी गई हैं। और उन्होंने हमारे देशवासियों में से कुछ अत्यंत उदात्त व्यक्तियों को अपनी राय जाहिर करने के कारण गिरफ्तार किया है। हमारा असहयोग इस प्रणाली के विरुद्ध एक खुला विद्रोह है। मत पर लगाए गए इस प्रतिबंध के विरुद्ध लड़ने में हमें वही प्रतिबंध दूसरों पर लगाने का अपराधी नहीं बनना चाहिए।

यंग इंडिया, २७-१०-१९२१

११. सत्याग्रह कौन करे?

सत्याग्रह का मर्म यह है कि जिन्हें अत्याचार सहना पड़े सिर्फ वे ही सत्याग्रह करें। ऐसे मामलों की कल्पना की जा सकती है, जिनमें सहानुभूतिपूर्ण कहा जा सकनेवाला सत्याग्रह करना उचित हो। सत्याग्रह की जड़ में विचार यह है कि अन्यायी का हृदय-परिवर्तन किया जाए, उसमें न्यायबुद्धि जाग्रत की जाय और उसे भी यह दिखा दिया जाय कि पीड़ित पक्ष के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग के बिना अन्यायी मनचाहा अन्याय नहीं कर सकता। दोनों ही स्थितियों में अगर लोग अपने ध्येय के लिए कष्ट सहने को तैयार न हों, तो सत्याग्रह के रूप में किसी बाहरी सहायता से उनकी सच्ची मुक्ति नहीं हो सकती।

हरिजन, १०-१२-१९३८

१२. सत्याग्रह का ढंग

सत्याग्रह के आंदोलन में लड़ाई का तरीका और रणनीति का चुनाव—अर्थात् आगे बढ़े या पीछे हटें, सविनय कानून-भंग करें या रचनात्मक कार्य तथा शुद्ध निःस्वार्थ मानव-सेवा के द्वारा अहिंसक बल संगठित करें, आदि बातों का निर्णय—परिस्थिति की विशेष आवश्यकताओं के अनुसार किया जाता है। सत्याग्रही के लिए जो भी योजना बना दी जाय उस पर उसे ठंडे निश्चय के साथ अमल करना चाहिए; न उसे उत्तेजित होना चाहिए और न निराश होना चाहिए।

हरिजन, २७-५-१९३९

अहिंसात्मक रणनीति में अनुशासन की जगह तो होती ही है, लेकिन और भी बातों की ज़रूरत होती है। सत्याग्रह की सेना में हरएक आदमी सिपाही और सेवक होता है। परंतु विषम स्थितियों में प्रत्येक सिपाही को अपना सेनापति और नेता भी आप ही हो जाना पड़ता है। केवल अनुशासन से नेता नहीं बना जा सकता। इसके लिए श्रद्धा और दृष्टि भी चाहिए।

हरिजन, २८-७-१९४०

१३. संख्या का महत्त्व नहीं

हरएक बड़े ध्येय के लिए जूझने वालों की संख्या का महत्त्व नहीं होता; जिन गुणों से वे बने होते हैं वे ही गुण निर्णायक होते हैं। संसार के महान से महान पुरुष हमेशा अपने ध्येय पर अकेले ही डटे रहे हैं।

यंग इंडिया, १०-११-१९२९

१४. सत्याग्रह—अंतिम उपाय

चूँकि सत्याग्रह सीधी कार्रवाई के अत्यंत बलशाली उपायों में से एक है, इसलिए सत्याग्रही सत्याग्रह का आश्रय लेने से पहले और सब उपाय आजमा कर देख लेता है। इसके लिए वह सदा और निरंतर सत्ताधारियों के पास जाएँगा, लोकमत को प्रभावित और शिक्षित करेगा, जो उसकी बात सुनना चाहते हैं उन सबके सामने अपना मामला शांति और ठंडे दिमाग से रखेगा और जब ये सब उपाय वह आजमा चुकेगा तभी सत्याग्रह का आश्रय लेगा। परंतु जब उसे अंतर्नाद की प्रेरक पुकार सुनाई देती है और वह सत्याग्रह छेड़ देता है, तब वह अपना सब कुछ दाँव पर लगा देता है और पीछे कदम नहीं हटाता।

यंग इंडिया, २०-१०-१९२७

ख—आर्थिक असमानता

१. असहयोग

अगर मैं पूंजीपति और मज़दूर की मूलभूत समानता को मान लेता हूँ, जैसा कि मुझे करना चाहिए, तो मुझे पूंजीपति के विनाश का लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। मुझे उसके हृदय-परिवर्तन की कोशिश करनी चाहिए। मेरे असहयोग से उसकी आँखें खुल जाएँगी और वह अपने अन्याय को समझ लेगा। यह आसानी से प्रत्यक्ष सिद्ध किया जा सकता है कि पूंजीपति के विनाश का परिणाम अंत में मज़दूर का विनाश ही होगा; और जिस तरह कोई मनुष्य इतना बुरा नहीं होता कि कभी सुधर ही न सके, उसी तरह कोई मनुष्य इतना पूर्ण भी नहीं होता कि जिसे वह भूल से बिलकुल बुरा मान लेता है उसका नाश उसके हाथों उचित ठहराया जा सके।

यंग इंडिया, २६-३-१९३१

अंग्रेजी में एक बड़ा शक्तिशाली शब्द है और वह फ्रेंच में भी है; संसार की सभी भाषाओं में है—वह शब्द है 'नहीं'; और हमें जो रहस्य हाथ लगा है वह यह है कि जब पूंजीपति चाहते हैं कि मज़दूर 'हाँ' कहें तब मज़दूर उच्च स्वर से 'नहीं' चिल्लाते हैं, अगर वे 'नहीं' कहना चाहते हैं। ज्यों ही मज़दूरों को यह ज्ञान हो जाता है कि वे जब चाहें तब 'हाँ' और जब चाहें तब 'नहीं' कह सकते हैं, त्यों ही वे पूंजीपति के पंजे से मुक्त हो जाते हैं और पूंजीपति को उन्हें मनाना पड़ता है। पूंजीपति के पास तोप-बंदूक और जहरीली गैस हो, तब भी कोई परवाह की बात नहीं। अगर मज़दूर अपने 'नहीं' पर अमल करके अपने गौरव को कायम रखें, तो पूंजीपति इन सबके होते हुए भी असहाय रहेगा। मज़दूरों को बदले में वार करने की ज़रूरत नहीं होती, बल्कि वे गोलियाँ खाते और जहरीली गैस सहते हुए भी विरोध में डटे रहते हैं और अपने 'नहीं' का आग्रह नहीं छोड़ते।

मज़दूर अकसर असफल क्यों होते हैं? इसका सारा कारण यह है कि पूंजी को अशक्त बना देने के बजाय, जैसा मैंने सुझाया है, मज़दूर (और मैं स्वयं मज़दूर की हैसियत से बोल रहा हूँ) स्वयं पूंजी को हथिया लेना चाहते हैं और ज़्यादा बुरे अर्थ में पूंजीपति बन जाना चाहते हैं।

इसलिए पूंजीपति, जो अच्छी तरह सुरक्षित और संगठित है, यह देखकर कि मज़दूरों में भी उस पद के कुछ उम्मीदवार हैं, उनमें से कुछ का उपयोग मज़दूरों को दबाने में करते हैं। अगर हम पर सचमुच इस जादू का असर न हो, तो हम सब स्त्री-पुरुष इस अटल सत्य को बिना किसी कठिनाई के समझ और मान लेंगे।

इंडियाज़ केस फोर स्वराज, पृ॰ ३९४

समान वितरण के सिद्धांत की जड़ में यह सिद्धांत होना चाहिए कि अमीरों के पास जो अनावश्यक दौलत है उसके वे संरक्षक हैं। कारण, इस सिद्धांत के अनुसार वे अपने पड़ोसी से ज़्यादा एक रुपया भी नहीं रख सकते। यह स्थिति कैसे पैदा की जाय? अहिंसक ढंग से? या धनवानों से उनकी संपत्ति छीन ली जाएँ? ऐसा करने के लिए कुदरती तौर पर हमें हिंसा का आश्रय लेना पड़ेगा। इस हिंसात्मक कार्रवाई से समाज का फायदा नहीं हो सकता। समाज इससे ज़्यादा कंगाल ही बनेगा, क्योंकि ऐसा करके वह उस आदमी की बुद्धि से वंचित हो जाएँगा जो धन इकट्ठा करना जानता है। इसलिए स्पष्ट ही अहिंसात्मक तरीका श्रेष्ठ है। इसमें धनिक के पास उसका धन रहने दिया जाएँगा; वह उसमें से अपने लिए उतना ही खर्च करेगा जितने की उचित रूप में उसे ज़रूरत होगी और बाकी धन का संरक्षक बन जाएँगा, जिसका समाज के लिए उपयोग होगा। इस तर्क में संरक्षक की प्रामाणिकता को मान लिया गया है।

लेकिन अगर पूरी कोशिश के बावजूद धनी लोग सच्चे मानी में गरीबों के संरक्षक नहीं बनते और गरीब अधिकाधिक कुचले जाते और भूखों मरते हैं, तो क्या किया जाय? इस पहेली का हल ढूँढ़ते हुए मुझे यह सूझा है कि अहिंसात्मक असहयोग और सविनय आज्ञाभंग इसके सही और अचूक उपाय हैं। समाज में अमीर लोग गरीबों के सहयोग के बगैर दौलत जमा नहीं कर सकते। अगर यह ज्ञान गरीबों को हो जाय और उनमें फैल जाय, तो वे बलवान बन जाएँगे और यह जान जाएँगे कि जिन भयंकर असमानताओं के कारण वे भुखमरी के किनारे पहुँच गए हैं, उनसे अहिंसा द्वारा कैसे वे अपने को मुक्त कर सकते हैं।

हरिजन, २५-८-१९४०

ज्यों ही काश्तकार अपनी ताकत को पहचान लेंगे, त्यों ही जमींदारी की बुराई खतम हो जाएँगी। अगर वे कह दें कि हम तब तक जमीन नहीं जोतेंगे, जब तक हमें अच्छी तरह खाने, पहनने तथा अपने को और अपने बच्चों को पढ़ाने-लिखाने के काफ़ी साधन नहीं मिल जाते, तो बेचारा जमींदार क्या कर सकता है? वास्तव में मेहनतकश जो कुछ पैदा करता है उसका वही मालिक है। अगर मेहनत-मशक्कत करने वाले बुद्धिपूर्वक एक हो जाएँ, तो उनकी ताकत का कोई मुकाबला नहीं कर सकता। यही कारण है कि जिससे मुझे वर्ग-विग्रह की आवश्यकता दिखाई नहीं देती। अगर मुझे वह अनिवार्य मालूम होता, तो उसका प्रचार और उपदेश करने में मैं संकोच न करता।

हरिजन, ५-१२-१९३६

२. वर्ग-विग्रह

वर्ग-विग्रह भारत की मूल प्रकृति के विपरीत है, जो सबके साथ समान न्याय के बुनियादी अधिकारों के आधार पर साम्यवाद का विकास करने की क्षमता रखता है। मेरी कल्पना के रामराज्य में राजा और रंक दोनों के अधिकारों की समान रूप से रक्षा की जाएँगी।

आप विश्वास रखिए कि मैं वर्ग-विग्रह को रोकने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दूँगा।

पश्चिम के समाजवाद और साम्यवाद का आधार कुछ ऐसे विचारों पर है, जो हमारे विचारों से बुनियादी तौर पर भिन्न हैं। उनमें से एक विचार तो उनका यह विश्वास है कि मनुष्य-स्वभाव मूल रूप में स्वार्थी है। मैं इसे नहीं मानता, क्योंकि मैं जानता हूँ कि मनुष्य ओर पशु में मौलिक भेद यह है कि मनुष्य अपनी आत्मा की पुकार से प्रभावित हो सकता है, जो विकार उसमें और पशुमें समान रूप से विद्यमान हैं उनसे ऊपर उठ सकता है और इसलिए वह स्वार्थ और हिंसा से भी ऊपर उठ सकता है—क्योंकि ये लक्षण उसके पशु-स्वभाव के हैं, न कि उसकी अमर आत्मा के। हिंदू धर्म का यह बुनियादी विचार है, जिसकी इस सत्य की खोज़ के पीछे बरसों की तपस्या और साधना है। यही कारण है कि हमारे यहाँ ऐसे अनेक साधु-संत हो गए हैं, जिन्होंने आत्मा के रहस्यों की खोज़ में अपने शरीर सुखा दिए और प्राण तक अर्पण कर दिए। इसलिए हमारे समाजवाद और साम्यवाद का आधार अहिंसा पर तथा मज़दूर और पूंजीपति, ज़मींदार और किसान सबके प्रेमपूर्ण सहयोग पर होना चाहिए।

अमृतबाज़ार पत्रिका, २-८-१९३४

विद्यार्थियों के उठाए हुए एक सवाल के जवाब में गांधीजी ने कहा:

मैं ज़मींदार और पूंजीपति का उपयोग गरीबों की सेवा में करना चाहूँगा। हमें पूंजीपतियों के लिए गरीबों के हितों का बलिदान हरगिज़ नहीं करना चाहिए। हमें उनका खेल नहीं खेलना चाहिए। लेकिन हमें उन पर उस हद तक तो भरोसा करना ही चाहिए, जिस हद तक वे अपना लाभ गरीबों की सेवा में अर्पित करने की क्षमता रखते हैं। वे ऊँचे दर्जे की अपील से अछूते नहीं रह सकते। मेरा सदा ही यह अनुभव रहा है कि सद्भावपूर्ण बात कही जाय, तो वह उनके दिलों

पर ज़रूर असर करती है। अगर हम उनका विश्वास प्राप्त कर लें और उन्हें निश्चित कर दें, तो हम देखेंगे कि वे गरीबों को धीरे-धीरे अपनी दौलत में हिस्सेदार बनाने के विरुद्ध नहीं हैं।

इसके सिवा, हमें अपने दिल से भी पूछना चाहिए कि हमने गरीबों के साथ अपने को कहाँ तक एक कर लिया है। कया हमारे और करोड़ों लोगों के बीच की खाई हमने पाट ली है? हमें कांच के महल में बैठकर दूसरों पर पत्थर नहीं फेंकने चाहिए। आप गरीबों के जीवन में कहाँ तक हिस्सा लेते है? मैं स्वीकार करता हूँ कि मेरे लिए तो अभी तक यह एक आकांक्षा ही रही है। खुद हमने जीवन की वे आदतें, जिनके लिए हम पूंजीपतियों को बदनाम मानते हैं, पूरी तरह नहीं छोड़ी हैं।

वर्ग-विग्रह का विचार मुझे अपील नहीं करता। भारत में वर्ग-विग्रह न सिर्फ अनिवार्य नहीं है। बल्कि वह परिहार्य भी है, यदि हमने अहिंसा का संदेश समझ लिया है। जो वर्ग-विग्रह के अनिवार्य होने की बात करते हैं, उन्होंने अहिंसा के गूढ़ अर्थ नहीं समझे हैं या केवल ऊपर-ऊपर से ही समझे हैं।

हमें पश्चिम से आए हुए लुभावने नारों को अपने पर हावी नहीं होने देना चाहिए। क्या हमारी कोई स्वतंत्र पूर्वीय परंपरा नहीं है? क्या हम पूंजी और श्रम के प्रश्न का अपना ही हल नहीं खोज़ सकते? वर्णाश्रम व्यवस्था ऊँच-नीच के भेदों और पूंजी तथा श्रम के भेदों के बीच सामंजस्य कायम करने का उपाय नहीं तो और क्या है? इस विषय में जो भी चीज़ पश्चिम से आती है, उस पर हिंसा का रंग चढ़ा हुआ होता है। मुझे उस पर आपत्ति इसलिए है कि मैंने वह बरबादी देखी है, जो अंत में इस मार्ग पर चलने से होती है। आजकल पश्चिम के भी अधिक विचारशील लोग जिस गहरी खाई की ओर यह प्रणाली तेज़ी से जा रही है, उसे देखकर स्तंभित रह जाते हैं। और मेरा पश्चिम में अगर कोई असर है तो वह एक ऐसा हल ढूँढ़ने के मेरे सतत प्रयत्न के कारण है, जिसमें हिंसा और शोषण के कुचक्र से निकलने की आशा निहित है। मैं पश्चिम की समाज व्यवस्था का सहानुभूतिपूर्ण विद्यार्थी रहा हूँ और मैंने यह बात पाई है कि पश्चिम की आत्मा जिस ज्वर से पीड़ित है, उसकी जड़ में सत्य की अविश्रांत खोज़ है। मैं पश्चिम की इस भावना का आदर करता

हूँ। हमें अपनी पूर्वीय संस्थाओं का वैज्ञानिक खोज़ की इसी भावना से अध्ययन करना चाहिए। फिर हम एक ऐसे सच्चे समाजवाद और साम्यवाद का विकास कर लेंगे, जिसकी संसार ने अभी तक कल्पना भी नहीं की होगी। यह मान लेना निश्चित ही गलत है कि जनसाधारण की गरीबी के विषय में पश्चिमी समाजवाद या साम्यवाद ने जो कह दिया वह ब्रह्मवाक्य है।

अमृतबाज़ार पत्रिका, ३-८-१९३४

समस्या एक वर्ग के दूसरे वर्ग से भिड़ा देने की नहीं है, मगर मज़दूरों को शिक्षा देकर अपने गौरव का भान कराने की है। आखिर तो धनवानों की संख्या संसार में आटे में नमक के बराबर ही है। ज्यों ही मज़दूर अपनी ताकत को पहचान लेंगे और पहचान कर भी न्यायपूर्ण व्यवहार करेंगे, त्यों ही पूंजीपतियों का व्यवहार भी न्यायपूर्ण हो जाएँगा। मज़दूरों को धनवानों के विरुद्ध भड़काना वर्गद्वेष को और उससे होने वाले सारे बुरे परिणामों को चिरस्थायी बनाना है। यह संघर्ष ऐसा कुचक्र है, जिसे हर कीमत पर टालना चाहिए। यह अपनी कमज़ोरी को कबूल करना है, अपने को हीन समझने की निशानी है। जिस क्षण मज़दूर अपना गौरव पहचान लेंगे, उसी क्षण पैसे को अपना उचित स्थान मिल जाएँगा—अर्थात् वह मज़दूरों के लिए धरोहर बन जाएँगा, क्योंकि श्रम पैसे से बड़ा है।

हरिजन, १६-१०-१९४५

मैं आम लोगों को यह नहीं सिखाता कि वे पूंजीपतियों को अपना शत्रु समझें, परंतु यह सिखाता हूँ कि वे खुद अपने शत्रु हैं।

यंग इंडिया, २६-११-१९३१

३. मज़दूर-संगठन

मज़दूरों को संगठित करने की ज़रूरत

मज़दूरों में भाषण देते हुए गांधीजी ने कहा कि बरसों से जो बात में कहता रहा हूँ। वह यह है कि श्रम पूंजी से कहीं ज़्यादा श्रेष्ठ है। मैं श्रम और पूंजी का ब्याह करा देना चाहता हूँ। वे दोनों मिलकर आश्चर्यजनक काम कर सकते हैं। परंतु यह तभी हो सकता है जब मज़दूर इतने समझदार हो जाएँ कि वे आपस में सहयोग करें और फिर सम्मानपूर्ण समानता की शर्तो पर पूंजीपतियों के साथ सहयोग करें। पूंजीपति मज़दूरों पर नियंत्रण इसलिए करते हैं कि वे मेल की कला जानते हैं। बिखरी हुई पानी की ढूँदें यों ही सूख जाती हैं; लेकिन वे एक-दूसरे से मिलकर महासागर बनाती हैं; जिसकी चौड़ी छाती पर बड़े-बड़े जहाज़ चलते हैं। इसी तरह अगर संसार के किसी भाग में सारे मज़दूर आपस में मिल जाएँ, तो वे ऊँची मज़दूरी के लालच में नहीं फँसेंगे या लाचार होकर थोड़े से पैसे की तरफ़ आकर्षित नहीं होंगे। मज़दूरों का सच्चा और अहिंसक संगठन ऐसे चुम्बक का काम करेगा, जो सारी आवश्यक पूंजी को अपनी ओर खींच लेगा। फिर तो पूंजीपति संरक्षक बनकर ही रह सकेंगे। जब वह सुखद दिन आएगा तब पूंजीपति और मज़दूर में कोई भेद नहीं रहेगा। तब मज़दूरों को काफ़ी भोजन, अच्छे और साफ़-सुथरे मकान, उनके बच्चों को हर प्रकार की ज़रूरी शिक्षा, स्व-शिक्षा के लिए काफ़ी अवकाश और उचित डॉक्टरी सहायता मिलेगी।

हरिजन, ७-९-१९४७

एक शब्द नीति के विषय में कह दूँ। वह पूंजीपति-विरोधी नहीं है। विचार यह है कि पूंजीपतियों से मज़दूरों का वाजिब हिस्सा लिया जाय, अधिक न लिया जाय; और वह भी पूंजीपतियों को निर्बल और लाचार बनाकर नहीं, बल्कि मज़दूरों में भीतर से सुधार करके और उनकी अपनी ही आत्म-जागृति से; गैर-मज़दूर नेताओं की चालाकी और चालबाजियों से भी नहीं, बल्कि मज़दूरों को यह शिक्षा देकर कि वे स्वयं अपने ही नेतृत्व का और अपने ही आत्म-निर्भर और स्वावलम्बी संगठन का विकास करें। उसका सीधा लक्ष्य राजनीतिक बिलकुल नहीं है। उसका

प्रत्यक्ष ध्येय भीतरी सुधार और भीतरी बल का विकास है। जब यह विकास संपूर्ण हो जाएँगा, तो उसका अप्रत्यक्ष राजनीतिक परिणाम कुदरती तौर पर जबरदस्त होगा।

इसलिए मज़दूर जब स्वावलम्बी इकाई बन जाएँगे, तब किसी प्रथम श्रेणी के महत्त्व की प्रत्यक्ष राजनीतिक सत्ता के लिए उनका उपयोग करने या उन्हें संगठित करने का मेरा कोई दूर का भी विचार नहीं है। मेरी राय में मज़दूरों को राजनीतिज्ञों के हाथों में राजनीतिक शतरंज का मोहरा नहीं बनना चाहिए। उन्हें केवल अपने ही बलके आधार पर उस शतरंज पर अपना प्रभुत्व कायम करना चाहिए।

('इज़ इंडिया डिफरेंट' में दिए गए १० मई, १९२७ के एक पत्र से; यह एस० सकलतवाला और गांधीजी के बीच का पत्रव्यवहार है; इसे ग्रेट ब्रिटेन के साम्यवादी दलने १६, किंग स्ट्रीट, लंदन से १९२७ में प्रकाशित किया था; पृ० २५)

मिल-मज़दूरों के लिए सहायक धंधे

मिल-मज़दूर का जीवन सदा उतार-चढ़ाव से भरा रहता है। बचत और किफायत बेशक इसका एक उपाय है और उसकी उपेक्षा करना अपराध होगा। परंतु इस तरह की हुई बचत से समस्या हल नहीं होती, क्योंकि हम देखते हैं कि हमारे मिल-मज़दूर हमेशा मुश्किल से पेट भर पाते हैं। इसके सिवा, हड़ताल या बेकारी के दिनों में घर पर बेकार बैठे रहने से मज़दूर का काम कभी नहीं चल सकता। उसके आत्म-विश्वास और स्वाभिमान के लिए मज़बूरन् बेकार रहने से बढ़कर हानिकारक और कोई चीज़ नहीं। मज़दूर-वर्ग को तब तक न तो सुरक्षितता अनुभव होगी और न उनमें आत्म-विश्वास और बलकी भावना का विकास होगा, जब तक उन लोगों के पास संकट-काल में आजीविका का कोई अचूक सहायक साधन न होगा।

मिल-मज़दूरों के लिए सहायक धंधे का विचार मुझे पहले-पहल तब सूझा था, जब १९१८ में अहमदाबाद के मिल-मज़दूरों की तेईस दिन की ऐतिहासिक हड़ताल हुई थी। मुझे उस समय यह सूझा था कि अगर हड़ताल को सफल बनाना है, तो मिल-मज़दूरों के पास कोई ऐसा धंधा होना ही चाहिए, जिससे वे पूरा या अधूरा गुजारा कर सकें। उन्हें दान पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। हड़ताल के दिनों में उनमें से कई लोग मामूली मज़दूरी पर लगा दिए गए थे। उसी तरह मैंने अपना

यह सुझाव रखा था कि मिल-मज़दूरों को कोई सहायक धंधा सिखाया जाय। लेकिन मेरा सुझाव दूसरी हड़ताल के आने तक खटाई में ही पड़ा रहा। तब कुछ शरूआत की गई। परंतु सहायक धंधे सिखलाने के लिए कोई कारगर संगठन एकदम पैदा कर लेना कठिन था। दूसरी हड़ताल खतम होने के साथ अनुकूल धंधे जुटाने और सिखाने का प्रयत्न भी समाप्त हो गया।

अब (अहमदाबाद का) मज़दूर-संघ इस दिशा में संगठित और व्यवस्थित प्रयत्न कर रहा है। मिल-मज़दूरों को ऐसे धंधे चुनना सिखाया जा रहा है, जिन्हें वे फ़ुरसत के समय घर में बैठकर कर सकें और जिनसे उन्हें बेकारी के समय ठोस राहत मिल सके। वे धंधे हैं: कपास की ओटाई, सफ़ाई, कताई और बुनाई, दर्जी का काम, साबुन और कागज़ बनाना, टाइप जमाना वगैरा।

मेरा यह मत है कि मज़दूर-वर्ग के लिए कई तरह के धंधो का व्यावहारिक ज्ञान वैसा ही है, जैसा पूंजीपतियों के लिए रुपया-पैसा। परंतु मुश्किल यह है कि जहाँ आज पूंजीपति संगठित हैं और उनकी जड़ खूब जमी हुई दिखाई देती है, वहाँ मज़दूरों का यह हाल नहीं है। मज़दूर की बुद्धि उसके जड़ और यांत्रिक धंधे से कुंठित हो जाती है, क्योंकि उसमें उसे अपने मस्तिष्क का विकास करने की बहुत कम गुंजाइश या मौका मिलता है। इस कारण उसे अपने बल और संपूर्ण गौरव का भान नहीं हुआ है। उसे यह मानना सिखाया गया है कि उसकी मज़दूरी पूंजीपति तय करेंगे; वह खुद अपनी शर्तों पर मज़दूरी की माँग नहीं कर सकता। वह केवल सही तरीके से संगठित हो जाय, अपनी बुद्धि को तीक्ष्ण बना ले और कई तरह के धंधे सीख ले; तो वह अपना सिर ऊँचा रखकर चल सकेगा और उसे गुजारे के साधन के अभाव का कभी डर नहीं रहेगा।

हरिजन, ३-७-१९३७

४. सरकारी कार्रवाई

कानून द्वारा जब्ती

मेरे खयाल से भारत वर्षों तक ऐसे कानून पास करने में लगा रहेगा, जिनसे पद-दलित और पतित लोगों का उस दलदल से उद्धार हो सके, जिसमें पूंजीपतियों ने, ज़मींदारों ने, तथाकथित उच्च वर्गों ने और बाद में वैज्ञानिक ढंग से अंग्रेज शासकों ने उन्हें फंसा दिया है। अगर हमें इन लोगों का इस दलदल से उद्धार करना है, तो अपने घर को व्यवस्थित करने के लिए भारत की राष्ट्रीय सरकार का यह अनिवार्य कर्तव्य होगा कि इन लोगों को लगातार तरजीह दे और वे जिस भार से कुचले जा रहे हैं उससे उन्हें मुक्त करे। और अगर ज़मींदारों, धनवानों और जो लोग आज विशेषाधिकार भोग रहे हैं उनको—मुझे इसकी चिंता नहीं कि वे यूरोपीय हैं या हिंदुस्तानी—ऐसा मालूम हो कि उनके साथ भेदभाव बरता जा रहा है, तो मेरी उनके साथ हमदर्दी होगी। मगर मैं उनकी, संभव हो तो भी, मदद नहीं कर सकूँगा। क्योंकि इस प्रक्रिया में मैं उनकी सहायता चाहूँगा, और उनकी सहायता के बिना इन लोगों को दलदल से निकालकर ऊँचा उठाना संभव नहीं होगा।

आप अछूतों की ही हालत को ले लीजिए। अगर कानून उनकी मदद करके मीलों का क्षेत्र उनके लिए अलग रख दे तो कैसा अच्छा हो? अभी तो उनके पास कोई ज़मीन नहीं है। वे सर्वथा तथाकथित उच्च वर्गों की दया पर और मैं यह भी कहूँगा कि राज्य की दया पर जीते हैं। वे एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले में हटाए जा सकते हैं; और न तो इसकी कोई शिकायत हो सकती है, न वे कानून की मदद ले सकते हैं। तो धारासभा का पहला काम यह देखना होगा कि कुछ हद तक समता की स्थिति लाने के लिए इन लोगों को खुले हाथों सहायता दी जाए।

यह सहायता किसकी जेब से निकलेगी? स्वर्ग से तो नहीं टपक पड़ेगी। स्वर्ग से राज्य के खातिर रुपया नहीं बरसेगा। कुदरती तौर पर सहायता के लिए रुपया रुपये वाले वर्गों से आएँगा और उनमें यूरोपीय भी शरीक होंगे।

मेरे पास दूसरा फार्मूला भी है, जो जल्दी में तैयार किया गया है। क्योंकि मैंने इसका मसौदा लार्ड रीडिंग और सर तेजबहादुर सप्रू को सुनते-सुनते बनाया है। यह वर्तमान अधिकारों के संबंध में है:

"ऐसे किसी मौजूदा हित में, जो उचित रूप में प्राप्त किया गया है और जिसका आम तौर पर राष्ट्र के उत्तम हितों से विरोध नहीं है, दखल नहीं दिया जाएँगा; और अगर दिया जाएँगा तो उन हितों पर लागू होने वाले कानून के अनुसार ही दिया जाएँगा।"

अवश्य ही मेरे दिमाग में वह चीज़ है, जो आप काँग्रेस के प्रस्ताव में देखेंगे। उसका संबंध उन जिम्मेदारियों से है, जिन्हें आज ब्रिटिश सरकार पूरा कर रही है और जिन्हें कल की आने वाली सरकार अपने सिर लेगी। जैसे हमारी यह माँग है कि इन जिम्मेदारियों को हम लें इससे पहले उनकी निष्पक्ष अदालत से जाँच करा ली जाए, ठीक वैसे ही ज़रूरत पड़ने पर मौजूदा हितों की भी अदालती जाँच होनी चाहिए। इसलिए प्रश्न उनको खारिज कर देने का नहीं, परंतु सिर्फ जाँच के बाद स्वीकार करने का है। यहाँ हममें कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हों ने यूरोपीयों को प्राप्त विशेषाधिकारों और एकाधिकारों का अध्ययन किया है। परंतु केवल यूरोपीयों की ही बात नहीं है, भारतीय भी हैं—और मेरे खयाल में निःसंदेह ऐसे कई भारतीय है—जिनके पास आज ऐसी ज़मीन है जो उन्हें किसी राष्ट्र सेवा के लिए नहीं दी गई है। मैं तो यह भी नहीं कह सकता कि वह सरकार की किसी सेवा के बदले में उन्हें दी गई है, क्योंकि मेरे खयाल से उनकी सेवा से सरकार को कोई लाभ नहीं हुआ है। वह केवल किसी सरकारी अधिकारी की सेवा के बदले में उन्हें दे दी गई है। और अगर आप मुझे यह कहें कि इन रियायतों और विशेषाधिकारों की जाँच करना राज्य का काम नहीं है, तो मैं फिर आप से कहूँगा कि तब महरूमों और वंचितों के हित में सरकारी तंत्र को चलाना असंभव हो जाएँगा। इससे आप समझ लेंगे कि यहाँ कोई बात केवल यूरोपीयों के संबंध में नहीं कही गई है। दूसरा फार्मूला भी जितना भारतीयों पर, उदाहरणार्थ सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास और सर फीरोज सेठना पर, लागू होता है, उतना ही यूरोपीयों पर होता है। उन्हें जो रियायतें मिली हुई हैं, वे अगर इसलिए मिली हैं कि उन्होंने राज्य के तत्कालिन अधिकारियों की कोई सेवा की थी और इसलिए उन्हें मीलों ज़मीन मिल गई हैं, तो मेरे हाथ में सरकार आने पर मैं तुरंत उनसे वे रियायतें और ज़मीनें छीन लूँगा। उस समय मैं यह लिहाज़ नहीं रखूँगा कि वे भारतीय हैं। उतनी ही मुस्तैदी से मैं सर ह्यूबर्ट कार या मि॰ बेन्थल से उनकी संपत्ति छीन लूंगा, भले वे कितने ही भले और मेरे प्रति मित्रभाव रखनेवाले क्यों न हों। कानून किसी भी व्यक्ति का लिहाज़

नहीं रखेगा। मैं आपको यह आश्वासन देता हूँ। इससे आगे मैं नहीं जा सकता। तो 'उचित रूप में प्राप्त किया गया' का वस्तुतः यह अर्थ है कि प्रत्येक हित निष्कलंक होना चाहिए, सीज़र की पत्नी की तरह संदेह से परे होना चाहिए। इसलिए हम यह आशा रखेंगे कि जब ये चीज़ें सरकार के ध्यान में जाएँगी, तब इन सबकी जाँच की जाएँगी।

इसके बाद आपके सामने 'जिसका राष्ट्र के उत्तम हितों से विरोध नहीं है' वाली बात है। मेरे ध्यान में कुछ ऐसे एकाधिकार हैं, जो प्राप्त तो बेशक उचित रूप में ही किए गए हैं, मगर वे राष्ट्र के उत्तम हितों के विरुद्ध हैं। मैं आपको एक उदाहरण दूँगा, जिससे आपका कुछ मनोरंजन तो होगा, मगर उसका आधार स्वाभाविक है। आप इस सफेद हाथी (देश पर भारी बोझ डालने वाली चीज़) को ही लीजिए, जिसे नई दिल्ली कहा जाता है। इस पर करोड़ों रुपये खर्च किए गए हैं। मान लीजिए कि भावी सरकार इस नतीज़े पर पहुँचती है कि जब यह सफेद हाथी हमारे पास है ही, तो इसका कोई उपयोग कर लिया जाए। कल्पना कीजिए कि पुरानी दिल्ली में प्लेग या हैजा फैला हुआ है और हमें गरीब लोगों के लिए अस्पताल चाहिए। तब हम कया करेंगे? कया आप समझते हैं कि राष्ट्रीय सरकार अस्पताल वगैरा बना सकेगी? ऐसा नहीं हो सकेगा। हम इन इमारतों पर अधिकार कर लेंगे और इन प्लेग-पीड़ित लोगों को वहाँ रखकर अस्पतालों की तरह उनका उपयोग करेंगे; क्योंकि मेरा दावा है कि ये इमारतें राष्ट्र के उत्तम हितों के विरुद्ध हैं। वे करोड़ों भारतीयों का प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। वे उन धनवानों का प्रतिनिधित्व कर सकती हैं, जो यहाँ मेज़ पर बैठे हैं; वे नवाब साहब भोपाल या सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास या सर फीरोज सेठना या सर तेजबहादुर सप्रूका प्रतिनिधित्व कर सकती हैं। मगर वे उन लोगों का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती, जिन्हें सोने के लिए कोई जगह और खाने के लिए रोटी का एक टुकड़ा भी नसीब नहीं होता। अगर राष्ट्रीय सरकार इस परिणाम पर पहुँचे कि यह स्थान अनावश्यक है, तो वह छीन लिया जाएँगा—भले वह किन्हीं भी लोगों के हाथ में हो। और मैं आपको बता दूँ कि बगैर किसी मुआवजे के छीन लिया जाएँगा। क्योंकि अगर आप इस सरकार से क्षतिपूर्ति करवाना चाहेंगे, तो उसे अहमद को लूटकर महमद को देना होगा, जो उसके लिए असंभव होगा।

अगर काँग्रेस की कल्पना की सरकार अस्तित्व में आती है, तो यह कड़वा घूँट पीना ही पड़ेगा।

[लंदन में गोलमेज परिषद के सामने दिए गए एक भाषण से]

दि नेशन्स व्हाइस, १९३२; पृ॰ ७१

ग—सामाजिक अव्यवस्था

१. दंगे

शांति-सेना

दंगों को अहिंसक ढंग से शांत करने के लिए दिल में सच्ची अहिंसा होनी चाहिए, ऐसी अहिंसा जो दोषी दंगाई का भी प्रेमपूर्वक्त आलिंगन करती है। ऐसी वृत्ति एकाएक नहीं पैदा हो सकती। वह तभी आ सकती है जब उसके लिए धीरज के साथ लंबा प्रयत्न किया जाए। और वह प्रयत्न शांतिकाल में किया जाना चाहिए। शांति-सेना के भावी सिपाही को अपने पड़ोस के तथाकथित गुंडों के गहरे सम्पर्क में आना और उनसे परिचय बढ़ाना चाहिए। वह सबसे और सब उससे परिचित होने चाहिए और उसे अपनी प्रेमपूर्ण और निःस्वार्थ सेवा द्वारा सबके हृदय जीत लेने चाहिए। समाज का कोई हिस्सा इतना तुच्छ और हलका न माना जाएँ, जिससे वे धुलमिल न सकें। गुंडे आकाश से नहीं टपक पड़ते और न ये भूतों की तरह ज़मीन से निकल आते हैं। वे समाज की कुव्यवस्था की ही उपज हैं और इसलिए उनके अस्तित्व के लिए समाज जिम्मेदार हैं। दूसरे शब्दों में, वे हमारे समाज के रोग की निशानी समझे जाने चाहिए। रोग को दूर करने के लिए पहले हमें उसके असली कारण का पता ज़रूर लगाना चाहिए। उसके बाद इलाज का पता लगाना ज़्यादा आसान काम हो जाएगा।

हरिजन, १५-९-१९४०

ऊपर के कथन से कोई यह न समझे कि अहिंसक सेना (शांतिसेना) उन्हीं के लिए खुली है, जो अपने जीवन में अहिंसा के भीतर रहे तमाम अर्थों का कड़ाई से पालन करते हैं। यह उन सबके लिए खुली है, जो उन अर्थों को स्वीकार करते हैं और उन पर अमल करने का अधिकाधिक प्रयत्न करते हैं। पूर्ण अहिंसक लोगों की शांति-सेना कभी नहीं बनेगी। वह उन्हीं लोगों की होगी, जो अहिंसा के पालन की ईमानदारी से कोशिश करेंगे।

हरिजन, २१-७-१९४०

अहिंसक सेना (शांति-सेना) सशस्त्र लोगों की तरह नहीं है। वह शांति और दंगों के समय काम करती है। ये लोग सतत ऐसी रचनात्मक प्रवृत्तियों में लगे रहेंगे, जिनसे दंगे असंभव हो जाते हैं। उनका कर्तव्य होगा कि दोनों लड़ने वाली जातियों को इकट्ठा करने के मौके ढूँढें, शांति का प्रचार करते रहें और ऐसे कामों में लगे रहें जिनसे अपने-अपने क्षेत्र में वे हरएक स्त्री-पुरुष, बच्चे और बालिग के संपर्क में आवें और बने रहें। ऐसी सेना को किसी भी संकट का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए और भीड़ के क्रोध को शांत करने के लिए काफ़ी संख्या में प्राणों की बाज़ी लगा देनी चाहिए। इस प्रकार की कुछ सौ या कुछ हजार शुद्ध मृत्युएँ दंगों को हमेशा के लिए खतम कर देंगी। अवश्य ही इस प्रकार के पागलपन से निपटने के लिए पुलिस और फौज़ के प्रदर्शन और उनके उपयोग की अपेक्षा कुछ सौ नौज़वान स्त्री-पुरुषों का इरादतन् अपने-आपको क्रोधित भीड़ के हवाले कर देना कहीं सस्ता और बहादुराना तरीका होगा।

हरिजन, २६-३-१९३८

कुछ समय हुआ, मैंने ऐसी शांति-सेना बनाने का सुझाव रखा था, जिसके सदस्य खास तौर पर सांप्रदायिक दंगों से निपटने के लिए अपने प्राणों तक की बाज़ी लगा देने को तैयार हों। विचार यह था कि इस सेना को पुलिस का ही नहीं, फौज़ का भी स्थान ले लेना चाहिए।

इसलिए हम देखें कि प्रस्तावित शांति-सेना के सदस्यों की क्या योग्यताएँ होनी चाहिए:

१. शांति-सेना का सदस्य पुरुष हो या स्त्री, अहिंसा में उसकी सजीव श्रद्धा होनी चाहिए। यह ईश्वर में सजीव श्रद्धा हुए बिना असंभव है। अहिंसक मनुष्य ईश्वर की कृपा और शक्ति के बिना कुछ नहीं कर सकता। इसके बगैर उसमें क्रोध, भय और प्रतिशोध-रहित होकर मरने का साहस नहीं आयेगा। यह साहस इस विश्वास से आता है कि ईश्वर सबके हृदयों में निवास करता है और ईश्वर के होते हुए किसी का डर नहीं होना चाहिए। ईश्वर की सर्व-व्यापकता के ज्ञान का यह भी अर्थ है कि जो विरोधी या गुंडे कहे जा सकते हैं, उनके प्राणों का भी आदर किया जाए। यह प्रस्तावित हस्तक्षेप ऐसी क्रिया है, जिससे क्रुद्ध मनुष्य पर जब शैतान सवार हो जाता है, तब उसे शांत किया जा सकता है।

२. शांति के इस दूत में संसार के सब मुख्य धर्मों के लिए समान आदरभाव होना चाहिए। इस प्रकार यदि वह हिंदू है, तो वह भारत में प्रचलित दूसरे धर्मों का आदर करेगा। इसलिए उसे इस देश में माने जानेवाले भिन्न-भिन्न धर्मो के सामान्य सिद्धांतों की जानकारी होनी चाहिए।

३. आम तौर पर शांति का यह कार्य स्थानीय लोग अपने-अपने मुहल्लों में ही कर सकते हैं।

४. काम अकेले या समूहों में भी किया जा सकता है। इसलिए किसीको साथियों के लिए ठहरने की ज़रूरत नहीं। फिर भी लोग अपने-अपने मुहल्लों में कुदरती तौर पर साथी जुटा लेंगे और स्थानीय सेना बना लेंगे।

५. यह शांतिदूत व्यक्तिगत सेवा द्वारा अपने मुहल्ले या चुने हुए हलके में लोगों से ऐसा संपर्क स्थापित कर लेगा कि जब वह खराब परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए सामने आए तब दंगाइयों को वह ऐसा अजनबी न लगे; जिसे शक की नज़र से देखा जाय या अवांछनीय व्यक्ति माना जाय।

६. यह कहने की ज़रूरत नहीं कि शांतिदूत का चरित्र निष्कलंक होना चाहिए और वह अपनी कठोर निष्पक्षता के लिए मशहूर होना चाहिए।

७. आम तौर पर आने वाले तूफानों की चेतावनी पहले से मिल जाती है। अगर चेतावनी मिल जाय तो शांति-सेना आग के भड़क उठने तक बाट देखती न रहे, बल्कि पहले से ही स्थिति को संभालने की कोशिश करे।

८. अगर यह आंदोलन फैल जाय, तो पूरा समय लगाने वाले कुछ कार्यकर्ताओं का होना अच्छा रहेगा। लेकिन ऐसा होना नितांत आवश्यक नहीं है। विचार यह है कि अधिक से अधिक अच्छे और सच्चे स्त्री-पुरुष रखे जाएँ। यह तभी हो सकता है कि जब स्वयंसेवक उन लोगों में से आएँ, जो जीवन के विविध कार्यों में लगे हुए हैं, परंतु जिन के पास इतना अवकाश है कि वे अपने-अपने क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के साथ मैत्री-सम्बन्ध कायम कर सकें और ऐसी सब योग्यताएँ रखते हों जो शांति-सेना के सदस्य में होनी चाहिए।

९. प्रस्तावित सेना के लोगों के पहनने की खास पोशाक होनी चाहिए, ताकि धीरे-धीरे उन्हें जरा भी कठिनाई के बिना पहचाना जा सके।

ये केवल साधारण सुझाव हैं। प्रत्येक केन्द्र यहाँ बताएँ हुए आधार पर अपना-अपना विधान तैयार कर सकता है।

हरिजन, १८-६-१९३८

कुछ समय पहले मेरे कहने पर शांतिदल बनाने का प्रयत्न किया गया था। मगर उसका कोई नतीजा नहीं निकला। फिर भी उससे यह सीखने को मिला कि शांतिदल बड़े पैमाने पर काम नहीं कर सकते। साधारणतः बलके आधार पर बने किसी बड़े स्वयंसेवक-दल को अच्छी तरह चलाने में अनुशासन भंग होने पर बल-प्रयोग की गुंजाइश मानी जाती है। ऐसी संस्थाओं में मनुष्य के चरित्र पर कोई जोर नहीं दिया जाता। शारीरिक योग्यता ही मुख्य चीज़ होती है। अहिंसक दल में उलटी बात होती है। उसमें चरित्र या आत्मबल सब-कुछ होना चाहिए और शरीर को गौण स्थान मिलना चाहिए। ऐसे बहुत से आदमियों का मिलना कठिन है। इसलिए अहिंसक दल को यदि कारगर बनना है, तो वह छोटा ही होना चाहिए। ऐसे दल सब जगह बिखरे हुए हो सकते हैं; हरएक गाँव या मुहल्ले के लिए एक दल हो सकता है। दल के सदस्य एक-दूसरे से भल्लीभाँति परिचित होने चाहिए। प्रत्येक दल अपना मुखिया आप ही चुन लेगा। सब सदस्यों का दर्जा एकसा होगा। मगर जहाँ हरएक व्यक्ति वही काम करता हो वहाँ एक आदमी ऐसा होना ही चाहिए जिसके अनुशासन में सब रहें; नहीं तो काम की हानि होगी। जहाँ दो या अधिक दल हों, वहाँ नेताओं को आपस में सलाह करके काम की एक-सी दिशा तय करनी चाहिए। यही सफलता की कुँजी है।

अगर इस ढंग पर अहिंसक स्वयंसेवक-दल बनाए जाएँ, तो वे आसानी से झगड़ों को बंद कर सकते हैं। इन दलों के लिए अखाड़ों में दी जाने वाली पूरी शारीरिक तालीम की ज़रूरत नहीं होगी, परंतु उसका कुछ भाग आवश्यक होगा।

किन्तु इन तमाम शांतिदलों में एक बात सामान्य होनी चाहिए, और वह है ईश्वर में अनन्य श्रद्धा। वही एकमात्र सच्चा साथी और कर्ता है। उसमें श्रद्धा हुए बिना ये शांतिदल निर्जीव होंगे।

हम ईश्वर को किसी भी नाम से पुकारें, हमें यह महसूस करना चाहिए कि हम उसी के बल पर काम कर सकते हैं। ऐसा आदमी कभी किसी दूसरे की जान नहीं लेगा। ज़रूरत पड़ने पर वह अपनी जान दे देगा और इस प्रकार मृत्यु पर विजय पाकर अमर बन जाएँगा।

जिस मनुष्य के जीवन में यह धर्म सजीव सत्य बन जाता है, उसे संकट में घबराहट नहीं होती। उसे काम करने का सही रास्ता अंतःप्रेरणा से मालूम हो जाएगा।

परंतु मैंने जो कुछ ऊपर कहा है उसके बावजूद मैं स्वयं अपने अनुभव से कुछ चुने हुए नियम यहाँ दे देना पसंद करूँगा:

१. स्वयंसेवक के पास कोई हथियार न रहे।

२. शांतिदल के आदमी आसानी से पहचाने जा सकने चाहिए।

३. प्रत्येक स्वयंसेवक के पास प्रारंभिक सहायता करने के लिए पट्टियाँ, कैंची, सुई-डोरा, चीर-फाड़ का चाकू आदि होने चाहिए।

४. उसे घायलों को उठाकर ले जाते आना चाहिए।

५. उसे यह मालूम होना चाहिए कि आग कैसे बुझाई जाती है, जले बिना आग के क्षेत्र में कैसे घुसते हैं, लोगों को बचाने के लिए ऊँची जगहों पर कैसे चढ़ते हैं और बचाएँ हुए आदमी को साथ लेकर या बिना लिए कैसे उतरते हैं।

६. उसे अपने मुहल्ले के सब लोगों से अच्छी तरह परिचित होना चाहिए। यह स्वयं एक सेवा है।

७. उसे अपने हृदय में सदा रामनाम रटते रहना चाहिए और जिनका विश्वास हो उनको भी ऐसा ही करने को समझाना चाहिए।

मनुष्य अकसर तोते की तरह रामनाम रटता है और वैसे करके फल की आशा रखता है। सच्चे मुमुक्षु को ऐसी सजीव श्रद्धा रखनी चाहिए, जो न केवल उसके हृदय से बल्कि दूसरों के हृदयों से भी तोते की तरह रामनाम रटने के असत्य का नाश कर दें।

हरिजन, ५-५-१९४६

सांप्रदायिक हत्याओं के खिलाफ

खून का बदला खून से या मुआवजे से कभी नहीं लिया जा सकता। खून का बदला लेने का एकमात्र उपाय यह है कि बदला लेने की कोई इच्छा न रखकर हम खुशी से अपने को बलिदान कर दें। बदले या मुआवजे से व्यक्ति को कुछ संतोष मिल सकता है। मगर मेरी यह स्पष्ट राय है कि उससे समाज में न कभी शांति स्थापित हो सकती है और न समाज का उत्थान हो सकता है।

हरिजन, १८-८-१९४६

पुलिस-बल

अहिंसक राज्य में भी पुलिस की ज़रूरत हो सकती है। मैं स्वीकार करता हूँ कि यह मेरी अपूर्ण अहिंसा का चिह्न है। मुझ में फौज़ की तरह पुलिस के बारे में भी यह घोषणा करने का साहस नहीं है कि हम पुलिस की ताकत के बिना काम चला सकते हैं। अवश्य ही मैं ऐसे राज्य की कल्पना कर सकता हूँ और करता हूँ, जिसमें पुलिस की ज़रूरत नहीं होगी; परंतु यह कल्पना सफल होगी या नहीं, यह तो भविष्य ही बताएगा।

परंतु मेरी कल्पना की पुलिस आजकल की पुलिस से बिलकुल भिन्न होगी। उसमें सभी सिपाही अहिंसा में मानने वाले होंगे। वे जनता के मालिक नहीं, सेवक होंगे। लोग स्वाभाविक रूप में ही उन्हें हर प्रकार की सहायता देंगे और आपस के सहयोग से दिन-दिन घटने वाले दंगों का आसानी से सामना कर लेंगे। पुलिस के पास किसी न किसी प्रकार के हथियार तो होंगे, परंतु उन्हें क्वचित् ही काम में लिया जाएगा। असल में तो पुलिसवाले सुधारक बन जाएँगे। उनका काम मुख्यतः चोर-डाकुओं तक सीमित रह जाएँगा। मज़दूरों और पूंजीपतियों के झगड़े और हड़तालें अहिंसक राज्य में यदाकदा ही होंगी, क्योंकि अहिंसक बहुमत का असर इतना अधिक रहेगा कि समाज के मुख्य तत्त्व उसका आदर करेंगे। इसी तरह सांप्रदायिक दंगों की भी गुंजाइश नहीं रहेगी।

हरिजन, १-९-१९४०

२. चोरियाँ

एक शस्त्र-सज्जित मनुष्य आपका माल चुरा ले जाता है। आपको उसके कृत्य का खयाल सताता रहता है; आप क्रोध से भर जाते हैं; आप तर्क करते है कि आप उसे बदमाश को सजा देना चाहते हैं—अपने ही ख़ातिर नहीं, किंतु अपने पड़ोसियों की भलाई के ख़ातिर; आप हथियारबंद आदमियों की टोली जमा करते हैं और उसके घर पर धावा बोलना चाहते है; उसे इसकी बाकायदा सूचना दे दी जाती है। वह भाग जाता है। वह भी उत्तेजित होता है। वह अपने डाकू भाइयों को जमा करता है और आपको मुकाबले का पैगाम भेजता है कि वह दिन-दहाड़े आपके घर में डाका डालेगा। आप सबल हैं; उससे नहीं डरते और उसका स्वागत करने को तैयार रहते हैं। इस बीच यह डाकू आपके पड़ोसियों को तंग करता है। वे आपसे इसकी शिकायत करते हैं। आप जवाब देते हैं, मैं तुम्हारे लिए सब-कुछ तैयार कर रहा हूँ। आप अपना माल चोरी जाने की परवाह नहीं करते। आपके पड़ोसी उत्तर देते हैं कि डाकूने हमको पहले कभी नहीं सताया; उसने लूट-खसोट तभी शुरू की, जब आपने उससे लड़ाई ठानी। आप दुविधा में पड़ जाते हैं। आपको इन गरीबों पर दया आती है। उनका कहना सच है। आप क्या करें? अब यदि आप डाकू को यों ही छोड़ देते हैं, तो आपका अपमान होता है। इसलिए आप इन गरीबों से कहते हैं, “कोई परवाह नहीं। मेरा धन तुम्हारा ही है। मैं तुम्हें हथियार दूँगा और उनसे काम लेना भी सिखाऊँगा। तुम्हें ऐसे बदमाश की मरम्मत करनी चाहिए। उसे यों ही मत छोड़ो।” इस प्रकार लड़ाई बढ़ती है। डाकूओं की संख्या में वृद्धि होती है; आपके पड़ोसी जान-बूझकर असुविधा मोल लेते हैं। इस तरह डाकू से बदला लेने की इच्छा का परिणाम यह होता है कि आपने अपनी शांति भंग कर ली; आपको सदा डाका पड़ने और हमला होने का डर रहने लगा; आपके साहस का स्थान कायरता ने ले लिया। अगर आप धीरज से इस तर्क की परीक्षा करेंगे, तो आप देख लेंगे कि मैंने कोई बढ़ा-चढ़ाकर चित्र नहीं खींचा है। यह एक तरीका हुआ।

अब दूसरे तरीके को जाँचें। आप उस सशस्त्र डाकू को एक अज्ञान भाई मान लेते हैं। आप उचित अवसर पर उसे समझाने का विचार करते हैं; आप यह तर्क करते हैं कि आखिर तो वह

हमारा एक मानव-बंधु ही है; आप नहीं जानते कि उसे चोरी की प्रेरणा कैसे हुई। इसलिए आप यह निर्णय करते हैं कि जब संभव होगा आप उस आदमी के चोरी के हेतु को ही नष्ट कर देंगे। आप अपने मन में यह बहस कर रहे होंगे, उसी बीच वह आदमी फिर चोरी करने आ जाता है। उस पर क्रोध करने के बजाय आप उस पर दया करते हैं। आप सोचते है कि यह चोरी की आदत अवश्य ही उसकी एक बीमारी है। इसलिए आइंदा आप अपने दरवाज़े और खिड़कियाँ खुली रखते हैं, अपने सोने की जगह बदल लेते हैं और अपना सामान ऐसी जगह रखते हैं कि जहाँ उसकी पहुँच बहुत आसानी से हो जाय। डाकू फिर आता है और घबरा जाता है, क्योंकि ये सब बातें उसके लिए नई होती हैं। फिर भी वह आपका सामान ले जाता है। परंतु उसके मन में उथल-पुथल मच जाती है। वह आपके बारे में गाँव में पूछताछ करता है, उसे आपके उदार और प्रेमपूर्ण हृदय का हाल मालूम होता है, उसे पछतावा होता है, वह आपसे क्षमायाचना करता है, आपका सामान लौटा देता है और चोरी की आदत छोड़ देता है। वह आपका सेवक बन जाता है और आप उसके लिए इज्जत का काम जुटा देते हैं। यह दूसरा तरीका है। इस प्रकार आप देखते हैं कि अलग-अलग तरीकों के बिलकुल अलग-अलग परिणाम होते हैं। इससे मैं यह निष्कर्ष नहीं निकालता कि डाकू इसी प्रकार का आचरण करेंगे या सभी में आपकी तरह दया और प्रेम होगा। परंतु मैं यह दिखा देना चाहता हूँ कि अच्छे उपायों से ही अच्छे परिणाम निकल सकते हैं और सबमें नहीं तो कम से कम अधिकांश मामलों में प्रेम और दया का बल शस्त्रबल से कहीं बड़ा होता है। पशुबल के प्रयोग में हानि है, मगर दयाबल के प्रयोग में कभी नहीं।

हिंद स्वराज्य, १९४६ (१९०९ में लिखित); पृ॰ ५३-५४

प्र॰—जब किसी नौकर को चोरी की लत पड़ जाएँ और प्रेम से समझाने या मारपीट से भी वह न सुधरे, तो मालिक क्या करे?

उ॰—मेरी सलाह मालिक को यह होगी कि चोर के रास्ते में से वह सारे प्रलोभन हटा ले, उसके साथ अपने सगे भाई का-सा बरताव करे और जब वह कितने ही दयापूर्ण व्यवहार से भी

ठीक न हो तो उसे निकाल दे। मालिक सदा अपने मन से पूछे कि ऐसी स्थिति में वह अपने सगे भाई के साथ भी ऐसा ही व्यवहार करेगा या नहीं?

हरिजन, २१-७-१९४६

उरुली में शाम की प्रार्थना के बाद बोलते हुए गांधीजी ने कहा कि चोर या अपराधी के प्रति दुर्भाव रखने या उसे सजा दिलवाने की कोशिश करने के बजाय हमें उसके हृदय के भीतर प्रवेश करने का प्रयत्न करना चाहिए, जिस कारण से वह अपराध करने लगा हो उसे समझना चाहिए और उसका इलाज करने का प्रयत्न करना चाहिए। उदाहरणार्थ, हमें उसे कोई धंधा सिखा देना चाहिए और उसे ऐसा रोज़गार दिला देना चाहिए, जिससे वह ईमानदारी से अपना गुज़र कर सके। इस प्रकार हमें उसके जीवन का कायापलट कर देना चाहिए। हमें समझ लेना चाहिए कि चोर या अपराधी हम से भिन्न प्रकार का प्राणी नहीं है। असल में अगर हम आत्म-निरीक्षण करें और अपनी ही आत्माओं को ध्यान से देखें, तो हमें पता लगेगा कि हममें और उनमें अंतर केवल मात्रा का ही है।

हरिजन, ११-८-१९४६

३. स्त्रियों पर हमले

जहाँ अहिंसक वातावरण है, जहाँ अहिंसा की सतत शिक्षा दी जाती है, वहाँ स्त्री अपने को आश्रित, कमज़ोर या निःसहाय नहीं समझेगी। जब वह शुद्ध होती है तब लाचार हो ही नहीं सकती। उसकी शुद्धता ही उसका बल, उसका कवच है। मेरी सदा से यह राय रही है कि किसी भी स्त्री पर उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात्कार करना शारीरिक दृष्टि से असंभव है। यह अत्याचार उस पर तभी होता है, जब या तो वह डर के मारे झुक जाती है या अपने नैतिक बल का उसे भान नहीं होता। अगर वह आक्रमणकारी के शरीर-बल का सामना नहीं कर सकती, तो उसकी शुद्धता उसे वह बल देगी जिससे वह मर जाएँगी, मगर जीतेजी अपना सतीत्व नष्ट नहीं होने देगी। सीता का ही उदाहरण ले लीजिए। रावण के सामने शरीर-बल में वह कुछ भी नहीं थी, मगर उसकी पवित्रता रावण की राक्षसी ताकत से भी कहीं बढ़कर थी। रावण ने तरह तरह के प्रलोभन देकर उसे मनाना चाहा, मगर उसकी मरजी के बिना उसके शरीर को वह छू भी नहीं सका। इसके विपरीत, अगर कोई स्त्री अपने ही शरीर-बल या अपने पास के हथियार पर निर्भर रहती है, तो जब उसकी ताकत खतम हो जाएँगी तब वह अवश्य हार जाएँगी।

भाई, पिता या मित्र अपनी संरक्षित स्त्री और उस पर हमला करने वाले के बीच में खड़ा हो जाएगा। फिर वह या तो आक्रमणकारी को समझा-बुझाकर उसके दुष्ट हेतु से पराङ्मुख कर देगा या उसे रोकने में स्वयं मर जाएँगा। इस प्रकार प्राण देकर वह न सिर्फ अपना फर्ज अदा करेगा, बल्कि अपनी संरक्षित स्त्री को नया बल प्रदान करेगा, जिससे उसे अपने शील की रक्षा करने का उपाय मिल जाएँगा।

हरिजन, १-९-१९४०

यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि किसी भी स्त्री की, जो निडर है और जिसे यह ज्ञान है कि उसकी पवित्रता उसके सतीत्व की उत्तम ढाल है, लाज कभी नहीं लूटी जा सकती। पुरुष कितना ही पशु क्यों न बन जाय, स्त्री की तेजोमय पवित्रता के सामने वह शर्म के मारे सिर झुका लेगा। आज के समय में भी ऐसी स्त्रियों के उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने इस प्रकार अपने सतीत्व की

रक्षा की है। जब मैं यह लिख रहा हूँ, तब मुझे ऐसी दो मिसालें याद आ रही हैं। इसलिए जो स्त्रियाँ यह लेख पढ़े, उनसे मेरी सिफारिश है कि वे अपने में इस प्रकार का साहस पैदा करने की कोशिश करें। अगर वे आज की भाँति आक्रमणों के विचारमात्र से काँप जाना छोड़ सकें, और छोड़ दें, तो वे बिलकुल निर्भय बन जाएँगी। माता-पिताओं और पतियों को स्त्रियों को निर्भय बनने की कला सिखानी चाहिए। वह ईश्वर में सजीव श्रद्धा रखने से बहुत अच्छी तरह सीखी जा सकती है। यद्यपि ईश्वर है, फिर भी वह हमारा अचूक रक्षक है। जिसमें यह श्रद्धा है वह सबसे ज़्यादा निर्भय है।

परंतु ऐसी श्रद्धा या साहस एक दिन में नहीं प्राप्त किया जा सकता। तब तक हमें दूसरे उपाय ढूँढ़ने की कोशिश ज़रूर करनी चाहिए। जब किसी स्त्री पर हमला होता है तब वह हिंसा-अहिंसा का विचार करने को नहीं ठहर सकती। उस समय आत्मरक्षा ही उसका मुख्य कर्तव्य है। उसे अपने शील की रक्षा करने के लिए जो भी उपाय या तरीका सूझे, उसे अपनाने की स्वतंत्रता है। ईश्वर ने उसे नाखून और दाँत दिए हैं। उसे अपनी तमाम ताकत के साथ इन्हें काम में लेना चाहिए और ज़रूरत हो तो इस प्रयत्न में मर जाना चाहिए। जो पुरुष या स्त्री मौत का सारा डर छोड़ देती है, वह न सिर्फ अपनी ही रक्षा कर लेगी, बल्कि अपने प्राण देकर दूसरों को भी बचा लेगी ।

यह तो हुई स्त्री के कर्तव्य की बात। परंतु जिस पुरुष के सामने इस प्रकार के अपराध हों वह क्या करे? इसका उत्तर उपरोक्त विवेचन में आ जाता है। उसे निष्क्रिय साक्षी हरगिज़ नहीं बनना चाहिए। उसे स्त्री की रक्षा करनी ही चाहिए। उसे पुलिस की मदद के लिए नहीं दौड़ना चाहिए। उसे रेलगाड़ी में जंजीर खींचकर ही संतोष नहीं मान लेना चाहिए। अगर उसमें अहिंसा-पालन का सामर्थ्य होगा, तो वह ऐसा करते हुए मर जाएँगा और इस प्रकार स्त्री को संकट से बचा लेगा। अगर अहिंसा में उसका विश्वास न हो या वह उस पर अमल नहीं कर सके, तो उसे अपनी सारी ताकत लगाकर स्त्री को बचाने की कोशिश करनी चाहिए। दोनों ही हालतों में उसे अपने प्राण निछावर करने की तैयारी तो रखनी ही चाहिए।

हरिजन, १-३-१९४२

घ—राजनीतिक बुराइयाँ

१. बुरा राज्य

सविनय आज्ञाभंग

कट्टर असहयोगी तो राज्यसत्ता की बिलकुल उपेक्षा ही करता है। वह विद्रोही बन जाता है और राज्य के हरएक अनैतिक कानून की परवाह न करने का दावा करता है। उदाहरणार्थ, वह कर देने से इनकार कर सकता है और अपने दैनिक व्यवहार में राज्यसत्ता को मानने से इनकार कर सकता है। वह अनधिकार प्रवेश के कानून को मानने से इनकार करके सैनिकों से बात करने के लिए फौजी बैरकों में घुसने का दावा कर सकता है और धरना देने के तरीके पर लगाई गई मर्यादाओं को तोड़कर निधारित क्षेत्र के भीतर धरना दे सकता है। ये सब बातें करने में वह कभी बल का प्रयोग नहीं करता और जब उसके विरुद्ध बल का उपयोग किया जाता है, तो उसका कभी विरोध नहीं करता। सच पूछा जाय तो वह कारावास को और अपने विरुद्ध दूसरे प्रकार के बल-प्रयोग को निमंत्रण देता है। ऐसा वह इसलिए करता है कि उसे जो शारीरिक स्वतंत्रता ज़ाहिरा तौर पर प्राप्त है, वह उसे असह्य भार प्रतीत होने लगती है। वह अपने मन में यह तर्क करता है कि राज्य व्यक्तिगत स्वतंत्रता तभी तक देता है, जब तक नागरिक उसके नियमों को मानता है। नागरिक अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता का मूल्य राज्य के कानून के सामने झुक कर चुकाता है। इसलिए राज्य के किसी पूरी तरह या बहुत हद तक अन्यायपूर्ण कानून को मानना स्वतंत्रता का अनैतिक विनिमय है। जो नागरिक राज्य के बुरे स्वरूप को अच्छी तरह समझ लेता है, वह उसकी दया पर जीने से संतुष्ट नहीं होता; और जब वह राज्य को नैतिकता का भंग किए बिना अपने को गिरफ्तार करने के लिए मज़बूर करने की कोशिश करता है, तब जो लोग उसके विश्वास में शरीक नहीं हैं उन्हें वह समाज के लिए कण्टक दिखाई देता है। इस प्रकार सोचा जाए तो असहयोग आत्मा की पीड़ा को प्रगट करने का अत्यंत शक्तिशाली साधन है और एक बुरे राज्य के जारी रहने का जोरदार विरोध है। और चूँकि बदला लेने की वृत्ति न होने के कारण असहयोगी सेना विकारों से मुक्त होती है या

होनी चाहिए, इसलिए उसमें सैनिकों की कम से कम संख्या की ज़रूरत होती है। असल में तो बुराई के विरुद्ध भलाई की लड़ाई को जीतने के लिए एक ही सच्चा असहयोगी काफ़ी है।

यंग इंडिया, १०-११-१९२१

सविनय आज्ञाभंग का काम वही लोग हाथ में ले सकते हैं, जो राज्य द्वारा लादे गए असुविधाजनक कानूनों को भी तब तक खुशी से मानने में विश्वास रखते हैं; जब तक वे कानून उनकी अंतरात्मा या धर्म को चोट न पहुँचाते हों; और उतनी ही खुशी से सविनय आज्ञाभंग की सजा भुगतने को तैयार होते हैं। आज्ञाभंग सविनय होने के लिए सर्वथा अहिंसक होना चाहिए। क्योंकि उसके पीछे मूल सिद्धांत यह है कि कष्ट सहन करके अर्थात् प्रेम से विरोधी को जीता जाय।

यंग इंडिया, ३-११-१९२१

हिंसा के बावजूद सविनय अज्ञाभंग

भीतर से ऐसी पुकार आ सकती है, जिसकी उपेक्षा करने का हमारा साहस नहीं हो—भले उसके लिए हमें कितना ही त्याग क्यों न करना पड़े। मुझे ऐसा समय साफ आता हुआ-दिखाई देता है, जब रक्तपात की पक्की संभावना होते हुए भी मुझे राज्य के बनाए हुए-एक एक कानून को मानने से इनकार करना पड़ेगा। जब ऐसी पुकार की उपेक्षा करने का अर्थ ईश्वर से इनकार करना हो जाए, तब सविनय आज्ञाभंग सुनिश्चित कर्तव्य हो जाता है।

यंग इंडिया, ४-८-१९२१

जब कभी मैंने सविनय आज्ञाभंग स्थगित क्रिया है, तब हिंसा के भड़क उठने के कारण नहीं किया है, बल्कि ऐसी हिंसा का पता लगने पर किया है जिसे काँग्रेसियों ने शुरू किया या प्रोत्साहन दिया था—जिन्हें ज़्यादा समझदारी से काम लेना चाहिए था। उदाहरण के लिए, भोपला उपद्रव जैसे किसी हिंसाकाण्ड से सविनय आज्ञाभंग मुलतवी न होता। परंतु चोरीचौरा से हो गया। इसका सीधा-सा कारण यही है कि उसमें काँग्रेस से संबंध रखने वाले लोगों का हाथ था।

यंग इंडिया, २९-१०-१९२५

करबंदी

लोगों की तरफ़ से अनुकूल उत्तर मिलने की संभावना से ही हमें करबंदी का आश्रय नहीं लेना चाहिए। यह तैयारी एक घातक प्रलोभन है। ऐसी करबंदी सविनय या अहिंसक नहीं होगी, बल्कि एक अपराध होगी और उसमें हिंसा की अधिक से अधिक संभावना रहेगी। जब तक किसानों को सविनय करबंदी का कारण और गुण समझने की तालीम न मिल जाय और वे अपनी ज़मीनों की जब्ती और अपने मवेशियों और दूसरे सामान के नीलाम को शांति और 'ईश्वरेच्छा बलीयसी' की भावना से सहने को तैयार न हो जाए, तब तक उन्हें कर न चुकाने की सलाह नहीं दी जा सकती।

यंग इंडिया, २६-१-१९२२

कैद

सत्याग्रही अधिकारियों को परेशान करने के लिए जेल नहीं जाता, बल्कि अपनी निर्दोषता का प्रत्यक्ष प्रमाण देकर उनका हृदय-परिवर्तन करने के लिए जाता है। आपको अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि जब तक आपने अपने भीतर जेल जाने की वह नैतिक योग्यता पैदा नहीं कर ली है जो सत्याग्रह का कानून चाहता है, तब तक आपका जेल जाना व्यर्थ होगा और उससे अंत में निराशा के सिवा और कुछ आपके हाथ नहीं लगेगा।

हरिजन, ५-११-१९३८

क्या जनसाधारण अहिंसक रह सकते हैं?

प्र॰—आप यह कैसे मानते हैं कि जनसाधारण अहिंसा का पालन कर सकते हैं, जब हम जानते हैं कि वे सब क्रोध, घृणा दुर्भाव के शिकार रहते हैं? यह तो जानी हुई बात है कि वे अत्यंत छोटी-छोटी चीज़ों के लिए भी लड़ बैठते हैं।

उ॰—यह ठीक है, फिर भी मैं मानता हूँ कि वे सबकी भलाई के लिए अहिंसा पर अमल कर सकते हैं। क्या आप मानते हैं कि जिन हज़ारों स्त्रियों ने गैर-कानूनी नमक इकट्ठा किया, उनकी

किसी के प्रति दुर्भावना थी? वे जानती थीं कि काँग्रेस ने या गांधीजीने उन्हें कुछ बातें करने को कहा है, और उन्होंने श्रद्धा और आशा से वे बातें कीं। वे बुद्धि से अहिंसा में विश्वास नहीं करती थीं, जैसे बहुत लोगों को जमीन के गोल होने के बारे में विश्वास नहीं होता। मगर अपने नेताओं में उनका हार्दिक विश्वास था और इतना उनके लिए काफ़ी था। नेताओं की बात दूसरी है। अहिंसा में उनका विश्वास बुद्धिजनित होना चाहिए और उन्हें इस विश्वास के सारे अर्थों को जीवन में उतारना चाहिए।

हरिजन, ४-११-१९३९

२. बाहरी हमला

हथियार हों या न हों?

मेरी कल्पना के स्वराज्य में हथियारों की कोई ज़रूरत नहीं होगी। परंतु मैं यह आशा नहीं रखता कि वर्तमान प्रयत्न के फलस्वरूप मेरा यह सपना पूरी तरह सफल होगा। इसका पहला कारण तो यह है कि मौजूदा प्रयत्न उसे तात्कालिक ध्येय मानकर किया ही नहीं जा रहा है। दूसरे, मैं अपने-आपको इतना आगे बढ़ा हुआ नहीं समझता कि इस प्रकार की तैयारी के लिए राष्ट्र को कोई ब्यौरेवार कार्यक्रम दे सकूँ। मैं स्वयं अभी तक विकारों और मानव-स्वभाव की दुर्बलताओं से इतना भरा हूँ कि न तो मुझे वह पुकार महसूस होती है और न उसकी क्षमता। इसलिए मैं राष्ट्र को फिलहाल संपूर्ण और व्यावहारिक अहिंसा का मार्ग नहीं दिखा सकता।

यंग इंडिया, १७-११-१९२१

क्या अहिंसा से हमला रोका जा सकता है?

युद्ध के सैनिकों और अहिंसा के सैनिकों में दो बातें समान होती हैं। मैं स्विट्जरलैण्ड का नागरिक और वहाँ के संघ राज्य का राष्ट्रपति होता, तो मैं यह करता कि आक्रमणकारी सेना को रसद न देकर उसका रास्ता रोक देता। दूसरे, स्विट्जरलैण्ड में दूसरी थर्मोपोली को दोहराकर आप स्त्री-पुरुषों और बच्चों की जिंदा दीवार खड़ी कर देते और आक्रमणकारियों से कहते कि वे आपकी लाशों पर होकर गुजर जाएँ। आप कह सकते हैं कि ऐसी चीज़ मनुष्य के अनुभव और सहन-शक्ति के बाहर है। मैं कहता हूँ कि ऐसा नहीं है। यह बिलकुल संभव है। पिछले साल गुजरात में स्त्रियाँ लाठी-प्रहरों के सामने अचल खड़ी रहीं और पेशावर में हज़ारों लोगों ने हिंसा का आसरा लिए बिना बहादुरी से गोलियों की वर्षा का सामना किया। कल्पना कीजिए कि ये पुरुष और स्त्रियाँ एक ऐसी फौज़ के सामने खड़े हैं, जो दूसरे देश में जाने को सलामत रास्ता चाहती है। आप कह सकते है कि सेना हैवान बनकर उन पर से निकल जाएँगी। तब मैं यह कहूँगा कि आप अपना विनाश होने देकर भी अपना कर्तव्य पूरा करेंगे। जो सेना निर्दोष स्त्री-पुरुषों की लाशों पर से गुजरने का साहस करेगी, वह दुबारा यह प्रयोग नहीं कर सकेगी। आप चाहें तो स्त्री-पुरुषों के

बहुत बड़े समूहों में ऐसा साहस होने में विश्वास न रखें; मगर उस हालत में आपको यह मानना पड़ेगा कि अहिंसा कोई ऐसी-वैसी चीज़ नहीं है। उसकी कल्पना कमज़ोरों के हथियार के रूप में कभी नहीं की गई है, परंतु मज़बूत से मज़बूत हृदयों के अस्त्र के रूप में की गई है।

यंग इंडिया, ३१-१२-१९३१

प्र॰—ऐसी एक खबर है कि आपने अहिंसक असहयोग के द्वारा विदेशी आक्रमण से हिंदुस्तान की रक्षा करने के लिए कोई नई योजना तैयार की है, जिसे आप 'हरिजन' के किसी लेख में प्रकट किया चाहते हैं। क्या आप हमें उसकी कुछ कल्पना दे सकेंगे?

उ॰—यह खबर गलत है। मेरे मन में ऐसी कोई योजना नहीं है। होती तो आपको बता देता। लेकिन जब मैं यह कह चुका हूँ कि विशुद्ध अहिंसात्मक असहयोग होना चाहिए, तब मेरे खयाल से और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। अगर सारे भारत से अनुकूल उत्तर मिले और सब लोग एकदिल से असहयोग करें, तो मैं दिखा दूँ कि रक्त की एक बूँद भी गिराए बिना जापानियों के शस्त्रास्त्रों की या किसी भी संगठित शस्त्रबल की शक्ति को बेकार बनाया जा सकता है। इसके लिए भारत का यह दृढ़ निश्चय होना ज़रूरी है कि वह किसी भी हालत में थोड़ा भी अपनी बात से पीछे नहीं हटेगा और लाखों मनुष्यों की आहुति देने को तैयार रहेगा। मगर मैं इस कीमत को बहुत सस्ती और इस कीमत पर पाई हुई विजय को शानदार समझूँगा। यह हो सकता है कि भारत यह मूल्य चुकाने को तैयार न हो। मुझे आशा है कि यह सच नहीं है। परंतु किसी भी देश को, जो अपनी स्वाधीनता कायम रखना चाहता है, कुछ ऐसी कीमत तो चुकानी ही पड़ती है। आखिर तो रूसियों और चीनियों द्वारा किए गए बलिदान भी जबरदस्त ही हैं और वे अपना सबकुछ दाव पर लगाने को तैयार हैं। यही बात दूसरे मुल्कों के लिए भी कही जा सकती है, चाहे वे आक्रमण करनेवाले हों या आत्मरक्षा करने वाले। उन्हें भारी कीमत चुकानी पड़ रही है। इसलिए अहिंसक कार्यप्रणाली में मैं भारत को उससे ज़्यादा खतरा उठाने को नहीं कह रहा हूँ, जो दूसरे देश उठा रहे हैं और जो भारत को भी उठाना पड़ेगा, अगर वह सशस्त्र मुकाबला करे।

हरिजन, २४-५-१९४२

सातवाँ विभाग: कार्यकर्ता और कार्यक्रम

क—कार्यकर्ता

१. सर्वोदयी कार्यकर्ता की योग्यताएँ

[**सत्याग्रहीयों** के लिए गांधीजी द्वारा बतायी हुई कुछ योग्यताएँ निम्नलिखित हैं। परंतु चूँकि सर्वोदयी कार्यकर्ता को भी उनकी राय में सच्चा सत्याग्रही होना चाहिए, इसलिए ये योग्यताएँ सर्वोदयी कार्यकर्ताओं पर भी लागू होने वाली मानी जा सकती हैं।–सं॰]

१. उसकी ईश्वर में सजीव श्रद्धा होनी चाहिए, क्योंकि वही उसका एकमात्र आधार है।

२. उसे धर्म के रूप में सत्य और अहिंसा में विश्वास होना चाहिए और इसलिए उसे मानव-स्वभाव की जन्मजात अच्छाई में श्रद्धा होनी चाहिए। क्योंकि उसे यह आशा होती है कि अपने कष्ट-सहन द्वारा प्रगट होने वाले अपने सत्य और प्रेम से वह उस अच्छाई को जगा सकेगा।

३. उसका जीवन शुद्ध होना चाहिए और अपने लक्ष्य के लिए अपना जान-माल कुर्बान कर देने की उसकी तैयारी होनी चाहिए।

४. वह आदतन् खादी पहनने और सूत कातने वाला होना चाहिए। भारत के लिए यह अत्यावश्यक है।

५. वह सर्वथा निर्व्यसनी हो, ताकि उसकी बुद्धि सदा स्वच्छ और उसका मन सदा स्थिर रहे।

६. समय समय पर अनुशासन के जो भी नियम बनाएँ जाएँ, उन सबका उसे हृदय से पालन करना चाहिए।

यह न समझ लेना चाहिए कि इनमें सारी योग्यताएँ आ जाती हैं। ये तो केवल दिशादर्शक ही हैं।

हरिजन, २५-३-१९३९

नम्रता

अगर हम अहंकार की जंजीरें तोड़ डालें और मानवता के महासागर में विलीन हो जाएँ, तो हम उसके गौरव के हिस्सेदार बन जाते हैं। यह समझना कि हम भी कुछ हैं, ईश्वर के और अपने बीच में दीवार खड़ी कर लेना है; 'हम भी कुछ हैं' की भावना को छोड़कर हम ईश्वर के साथ एक हो जाते हैं। समुद्र में बूँद को भले ही इसका भान न हो, फिर भी वह अपने पिता के गौरव की हिस्सेदार होती है। मगर क्यों ही वह समुद्र से बिछुड़कर अलग अस्तित्व रखने लगती है त्यों ही सूख जाती है।

सेवामय जीवन में नम्रता होनी ही चाहिए। जिसे दूसरों के खातिर अपना जीवन उत्सर्ग करने की इच्छा हो, उसे अपने लिए कोई बड़ी जगह सुरक्षित रखने का समय ही कहाँ मिलेगा?

मंगल-प्रभात, १९४५; पृ॰ ४६-४७

सतत कार्य

सच्ची नम्रता का यह अर्थ है कि केवल मानव-सेवा की दिशा में ही अत्यंत कठोर और सतत प्रयत्न किया जाय। ईश्वर एक क्षण का भी विश्राम न लेकर निरंतर काम करता रहता है। अगर हम उसकी सेवा करना या उसमें मिल जाना चाहते हों, तो हमारा कार्य भी उसीकी तरह अथक और निरंतर होना चाहिए। जो बूँद समुद्र से अलग हो जाती है, उसके लिए क्षणभर का आराम हो सकता है; परंतु जो बूँद समुद्र के भीतर है, उसके लिए आराम नहीं है। क्योंकि समुद्र को आराम कहाँ? हमारे लिए भी यही बात है। ज्यों ही हम ईश्वररूपी समुद्र में समा जाते हैं, हमारे लिए आराम नहीं रह जाता और न हमें आराम की ज़रूरत रहती है। हमारी नींद भी एक कर्म ही है, क्योंकि हम अपने हृदयों में ईश्वर का विचार रखकर सोते हैं। यह अविश्रांत अवस्था ही सच्ची विश्रांति है। इस अनंत अशांति में ही अनिर्वचनीय शांति की कुँजी है।

मंगल-प्रभात, १९४५; पृ॰ ४७-४८

मौन

सत्य के पुजारी के लिए मौन का सेवन उचित है। जाने-अनजाने भी मनुष्य अकसर अतिशयोक्ति करता है, अथवा जो कहने योग्य है उसे छिपाता है, या भिन्न रूप में कहता है। ऐसे संकटों से बचने के लिए भी अल्पभाषी होना आवश्यक है। थोड़ा बोलने वाला बिना विचारे न बोलेगा, वह अपने प्रत्येक शब्द को तौलेगा।

आत्मकथा १९५१; पृ॰ ७९

शुद्धता

कोई भी कार्यकर्ता, जिसने काम-वासना को जीत नहीं लिया है, हरिजनों, सांप्रदायिक एकता, खादी, गोसेवा या ग्राम-पुनर्रचना के ध्येय के लिए कोई सच्ची सेवा नहीं कर सकता। ऐसे बड़े ध्येयों की सेवा केवल बौद्धिक तैयारी से ही नहीं हो सकती। उनके लिए आध्यात्मिक प्रयत्न या आत्मबल की ज़रूरत होती है। आत्मबल केवल ईश्वर की कृपा से ही मिलता है और ईश्वर की कृपा उस आदमी पर कभी नहीं उतरती जो वासना का दास है।

हरिजन, २१-११-१९३६

श्रद्धा

संसार को सजीव श्रद्धा—न कि निर्जीव परंपरागत श्रद्धा, जिसे संसार ग्रहण नहीं करेगा—भेंट करने में आपको अगुआ बनना चाहिए।

विथ गांधीजी इन सीलोन, १९२८; पृ॰ ११२

दुनिया में कोई बड़ा काम सजीव श्रद्धा के बिना नहीं हुआ।

हरिजन, ९-१०-१९३७

आम जनता से तादात्म्य

पहले हमें उनके (आम लोगों के) साथ और उनके बीच में काम करके उनके साथ सजीव संपर्क स्थापित करना चाहिए। हमें उनके दु:खों में शरीक होना चाहिए, उनकी कठिनाइयाँ समझनी चाहिए और उनकी ज़रूरतें पहले से जान लेनी चाहिए। हमें अछूतों के साथ अछूत बन जाना

चाहिए और देखना चाहिए कि उच्च वर्गों के पाखाने साफ़ करना और उनकी जूठन खाना हमें कैसा लगता हैं। हमें देखना चाहिए कि बम्बई के मज़दूरो की जिन सन्दूकों-जैसी झोंपड़ियों को घरों का गलत नाम दिया जाता है, उनमें रहना हमें कैसा लगता है। हमें उन देहातियों के साथ एक होना चाहिए, जो अपनी झुकी हुई पीठ पर कड़ी धूप सहकर कड़ी मेहनत करते हैं और देखना चाहिए कि जिस पोखर में गाँव वाले नहाते, अपने कपड़े और बरतन धोते और उनके मवेशी पानी पीते और लोटते हैं, उसका पानी पीना हमें कहाँ तक पसंद आता है। तभी—उससे पहले नहीं—हम गरीबों के सच्चे प्रतिनिधि बनेंगे और वे हमारी प्रत्येक पुकार का अनुकूल उत्तर देंगे। यह उतना ही निश्चित है जितना इस समय मेरा यह लेख लिखना है।

यंग इंडिया, ११-९-१९२४

व्यवहार के लिए उत्तम नियम यह है कि जो चीज़ लाखों लोगों को मयस्सर न हो, उसे लेने से हम दृढ़तापूर्वक इनकार कर दें। इनकार करने की शक्ति हम में एकाएक नहीं आ जाएँगी। पहला काम अपने भीतर यह मनोवृत्ति पैदा करना है कि जो सम्पत्ति या सुविधा लाखों लोगों को नहीं मिलती उसे हम न लें और दूसरी तुरंत करने लायक चीज़ यह है कि हम अपने जीवन को जल्दी से जल्दी इस मनोवृत्ति के साँचे में ढाल लें। इस प्रकार के त्यागी और दृढ़निश्चयी कार्यकर्ताओं की बहुत बड़ी सेना के बिना मेरी राय में जनसाधारण की सच्ची उन्नति होना असंभव है।

यंग इंडिया, २४-६-१९२६

समाजवाद पहले ही समाजवादी से शुरू हो जाता है। अगर ऐसा एक भी आदमी हो तो आप उस पर सिफर लगाते जाइए। पहले सिफर से संख्या दस गुनी हो जाएँगी और फिर हरएक सिफर जोड़ने से संख्या उत्तरोत्तर दस गुनी होती जाएँगी। लेकिन अगर पहला सिफर ही हो अर्थात् कोई भी प्रारंभ नहीं करे, तो सिफर बढ़ाते जाने से भी उनका मूल्य सिफर ही रहेगा। और सिफर लिखने में लगाया गया समय और कागज़ बेकार ही जाएँगे।

हरिजन, १३-७-१९४७

स्वेच्छापूर्वक अपनाई हुई दरिद्रता

उन्हें (सर्वोदयी कार्यकर्ताओं को) त्याग और स्वेच्छापूर्वक अपनाई जाने वाली दरिद्रता की कला और सुंदरता सीख लेनी चाहिए। उन्हें राष्ट्र का निर्माण करने वाली प्रवृत्तियों में लगे रहना चाहिए—जैसे, स्वयं हाथ से कात-बुनकर खादी का प्रचार करना, जीवन के हर क्षेत्र में एक-दूसरे के प्रति शुद्ध व्यक्तिगत आचरण करके हार्दिक सांप्रदायिक एकता फैलना, अपने निज़ी व्यवहार में हर प्रकार की अस्पृश्यता मिटा देना, और दुर्व्यसनों में फँसे हुए व्यक्तियों से व्यक्तिगत संपर्क स्थापित करके तथा आम तौर पर व्यक्तिगत शुद्धता बढ़ाकर नशीली चीजों का पूरा बहिष्कार कराना आदि। ये सेवाएँ ऐसी हैं जिन में गरीबों की-सी आजीविका मिल सकती हैं। जिन के लिए गरीबोंकी-सी आजीविका अनुकूल न हो, उन्हें राष्ट्रीय महत्त्व के छोटे संगठित उद्योगों में स्थान ढूँढ़ लेना चाहिए, जहाँ ज्यादा अच्छी मज़दूरी मिलती है।

अमृतबाज़ार पत्रिका, ८-४-१९३४

ख—कार्यक्रम

विस्तृत रचनात्मक कार्यक्रम मेरी पुस्तिका[१] 'में और डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद की पुस्तिका[२] में मिलेगा, जो उस पर एक सरसरी टीका है। यह याद रखना चाहिए कि वह संपूर्ण नहीं, उदाहरण के तौर पर ही है। स्थानीय परिस्थितियों को देखते हुए कई और मुद्दे ऐसे सूझ सकते हैं, जिनका छपे हुए कार्यक्रम में उल्लेख नहीं है। ये पुस्तिकाएँ किसी अखिल भारतीय कार्यक्रम पर लिखी गई पुस्तिका के क्षेत्र से बाहर हैं। उन मुद्दों की खोज़ करके उचित कार्रवाई करना अवश्य ही स्थानीय कार्यकर्ताओं का काम है।

मैंने तो यहाँ कुछ खास मुद्दों[३] का ही संकेत कर दिया है, ताकि इस कार्यक्रम के प्रकाशित होने के बाद जो अनुभव प्राप्त हो, उसके अनुसार उन पर अधिक जोर दिया जा सके।

———————————

१. रचनात्मक कार्यक्रम—उसका रहस्य और स्थान; नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद - १४।

२. रचनात्मक कार्यक्रम—कुछ सुझाव (अंग्रेजी में); नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद - १४।

३. इस पुस्तिका में दिए गए मुद्दों की सूची यह है:

१. कौमी एकता; २. अस्पृश्यता निवारण; ३. मद्य-निषेध; ४. खादी; ५. दूसरे ग्रामौद्योग; ६. गाँवों की सफ़ाई; ७. बुनियादी तालीम; ८. बड़ों की तालीम; ९. स्त्रियाँ; १०. आरोग्य के नियमों की शिक्षा; ११. प्रांतीय भाषाएँ; १२. राष्ट्रभाषा; १३. आर्थिक समानता; १४. किसान; १५. मज़दूर; १६. आदिवासी; १७. कुष्ठरोगी; १८. विद्यार्थी: और १९. पशु-सुधार।–सं॰

१. किसान

किसान या काश्तकार का स्थान पहला है, चाहे वह भूमिहीन मज़दूर हो, चाहे मेहनत-मज़दूरी करने वाला भूस्वामी हो। खेती किसान पर ही निर्भर है, इसलिए न्याय की दृष्टि से ज़मीन का मालिक वही है या होना चाहिए, न कि गैर-हाजिर जमींदार। परंतु अहिंसक प्रणाली में मज़दूर गैर-हाजिर जमींदार को जबरन् बेदखल नहीं कर सकता। उसे इस तरह काम करना चाहिए कि जमींदार के लिए उसका शोषण करना नामुमकिन हो जाएँ। किसानों में घनिष्ठ सहयोग निहायत ज़रूरी है। इसके लिए जहाँ न हों वहाँ विशेष संगठन करने वाली संस्थाएँ या समितियाँ बनाई जाएँ और जो पहले से मौजूद हैं उन्हें जहाँ ज़रूरत हो वहाँ सुधारा जाएँ। किसान ज्यादातर निरक्षर हैं। परंतु प्रौढ़ों और पाठशाला जाने की उम्र वाले नौज़वान लोगों को शिक्षा दी जानी चाहिए। यह बात स्त्री-पुरुष दोनों पर लागू होती है। जब वे भूमिहीन मज़दूर हों तो उनकी मज़दूरी को एसे स्तर ले आना चाहिए, जिससे उनके लिए अच्छा जीवन निश्चित हो जाए। इसका अर्थ यह है कि उन्हें संतुलित भोजन, रहने के मकान और कपड़ा इस प्रकार मिले कि स्वास्थ्य की ज़रूरतें पूरी हो जाएँ। भूमि संबंधी कानूनों की जाँच होनी चाहिए। किसानों की कर्जदारी की समस्या में खोज़ के लिए असीम क्षेत्र पड़ा है।

२. श्रम

किसान-कार्य से गहरा संबंध रखने वाला काम मज़दूरों का है। यहाँ मजदूरों से मतलब औद्योगिक मज़दूर है, जिनका क्षेत्र संगठित, केन्द्रित और अधिक सीमित है। साथ ही, उनका आसानी से राजनीतिक उपयोग किया जा सकता है।

शहरों तक सीमित होने के कारण मज़दूरों का काम किसान-कार्य की अपेक्षा कार्यकर्ताओं को अधिक आकर्षित कर लेता है। रचनात्मक कार्य के रूप में उसका मुख्य लक्ष्य मज़दूरों को उनका उचित स्थान दिला देना है। इसलिए मज़दूर-कार्यकर्ताओं का ध्येय यह होना चाहिए कि मज़दूरों की नैतिक और बौद्धिक ऊँचाई को बढ़ाएँ और इस प्रकार केवल गुणों के बल पर उन्हें इस योग्य बना दें कि वे न सिर्फ अपनी माली हालत सुधार लें, बल्कि आज की तरह उत्पादन के साधनों के गुलाम न रहकर उनके मालिक बन जाएँ। पूँजी को मज़दूरो का सेवक होना चाहिए, न कि स्वामी। मज़दूरों को अपने कर्तव्यों का भान कराना चाहिए, क्योंकि उनका पालन करने से अपने-आप अधिकार मिल जाते हैं। ठोस रूप में कहा जाए तोः

(क) मज़दूरों के अपने ही संघ होने चाहिए।

(ख) स्त्री-पुरुष दोनों की साधारण और वैज्ञानिक शिक्षा रात्रि-पाठशालाओं द्वारा नियमित रूप से होनी चाहिए।

(ग) मजदूरों के बच्चों को बुनियादी तालीम की पद्धति से शिक्षा मिलनी चाहिए।

(घ) प्रत्येक केन्द्र के साथ एक-एक अस्पताल, शिशु-संवर्धन-गृह और प्रसूति-गृह होना चाहिए।

(ङ) हड़ताल के दिनों में मजदूरों को स्वावलम्बी बनना चाहिए। (मजदूरों को सफल अहिंसक हड़ताल करने का विज्ञान सिखाना चाहिए।)

मैंने जिस कार्य का उल्लेख किया है, वह सब कलम (क) में बताए हुए संघों द्वारा ही किया जा सकता है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, अहमदाबाद के मज़दूर-संघ की व्यवस्था उत्तम है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह मेरे आदर्श तक पहुँच गया है। पर वह उस दिशा में प्रयत्न कर रहा हैं। यदि तमाम मज़दूर-संघ इसी दिशा में काम करें, तो आज की अपेक्षा मज़दूरों की हालत कहीं अच्छी हो जाएँ। अगर मज़दूर ऐक्यबद्ध और नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि से तालीम पाए हुए हों, तो वे सदा ही पूँजी से श्रेष्ठ हैं।

हिंदुस्तान स्टैण्डर्ड, २८-१०-१९४४

३. ग्रामसेवा

ग्रामसेवक के जीवन का केन्द्रबिंदु चरखा होगा। खादी की तह में विचार यह है कि वह खेती का सहायक और उसके साथ चलने वाला उद्योग है। जब तक हम अपने देहातों से आलस्य और बेकारी दूर न कर दें और प्रत्येक गाँव में घर-घर काम-धंधा न होने लगे, तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि चरखा हमारे जीवन में उसके उचित स्थान पर प्रस्थापित हो गया है।

ग्रामसेवक केवल नियमित रूप से कातेगा ही नहीं, बल्कि अपनी रोटी के लिए ज़रूरत के मुताबिक बसूला, फावड़ा या जूता बनाने का फर्मा लेकर काम करेगा। सोने और आराम करने के आठ घंटों के अलावा उसका सारा वक्त किसी न किसी काम में लगा रहेगा। व्यर्थ खोने को उसके पास कोई समय नहीं होगा। वह न तो स्वयं आलस्य करेगा, न दूसरों को करने देगा। उसका जीवन उसके पड़ोसियों के लिए अविश्रांत और सुखद उद्योग का सतत पाठ देता रहेगा। हमारी लाचारी या स्वेच्छा से पैदा हुई बेकारी अवश्य मिटनी चाहिए। वह नहीं मिटेगी तो कोई रामबाण दवा काम नहीं देगी और अधभूखे लोगों की शाश्वत समस्या वैसी ही बनी रहेगी। जो दो मुट्ठी खाता है उसे चार मुट्ठी पैदा करना चाहिए, जब तक यह धर्म सार्वत्रिक न मान लिया जाय, तब तक जनसंख्या में कितनी ही कमी हो जाएँ, तो भी उससे समस्या हल नहीं होगी। अगर इस कानून को मान कर उसका पालन किया जाएँ, तो हमारे यहाँ अभी तो अन्य लाखों आदमियों के लिए भरण-पोषण की गुंजाइश हैं।

इस प्रकार ग्रामसेवक उद्यम की साक्षात् मूर्ति होगा। वह कपास बोने और चुनने से लेकर बुनाई तक की खादी की तमाम क्रियाओं का निष्णात होगा और अपना सारा ध्यान उन्हें पूर्ण बनाने में लगायेगा। अगर वह इसे एक विज्ञान समझेगा, तो इससे ऊब नहीं जाएँगा; बल्कि ज्यों ज्यों इसकी महान संभावनाओं को अच्छी तरह समझने लगेगा, त्यों-त्यों उसे नित-नया आनंद प्राप्त होगा। वह देहात में जितना शिक्षक बनकर जाएँगा, उतना ही विद्यार्थी बनकर भी जाएँगा। उसे जल्दी ही मालूम हो जाएँगा कि भोलेभाले ग्रामीणों से उसे बहुत-कुछ सीखना है। वह ग्राम-जीवन की हर बात में घुसेगा, देहाती उद्योगों का पता लगायेगा और उनके विकास और सुधार की

संभावनाओं की जाँच करेगा। संभव है, खादी के संदेश के प्रति गाँव वाले उसे बिलकुल उदासीन जान पड़ें, परंतु यह अपने सेवामय जीवन से उनकी दिलचस्पी और ध्यान आकर्षित कर लेगा। अवश्य ही उसे अपनी मर्यादाओं को भूलकर किसानों के कर्ज की समस्या हल करने के काम में, जो उसके लिए व्यर्थ है, नहीं पड़ना चाहिए।

सफ़ाई और तंदुरस्ती के काम पर वह काफ़ी ध्यान देगा। न सिर्फ उसका घर और आसपास की जगह ही सफ़ाई का नमूना पेश करेंगे, बल्कि वह झाड़ू-टोकरी लेकर सारे गाँव में सफ़ाई रखवाने में भी मदद देगा।

वह देहाती दवाखाना खोलने या देहाती डॉक्टर बनने की कोशिश नहीं करेगा। यह सब जाल है, जिससे उसे बचना ही चाहिए। अपनी हरिजन-यात्रा के दौरान में मेरा एक ऐसे गाँव से साबका पड़ा था, जहाँ हमारे एक कार्यकर्ता ने, जिन्हें अधिक समझदारी से काम लेना चाहिए था, एक आलीशान इमारत बनाकर उसमें दवाखाना खोल दिया था और आसपास के देहातों में मुफ्त दवाइयाँ बाँटना शुरू कर दिया था। असल में तो स्वयंसेवक लोग ही दवाइयाँ ले जाकर घर-घर बाँटते थे और औषधालय के वर्णन में गर्व के साथ कहा गया था कि हर महीने १,२०० मरीज़ों को दवा दी जाती है। कुदरती तौर पर मुझे इसकी कड़ी आलोचना करनी पड़ी। मैंने उन्हें बताया कि देहात में काम करने का यह ढंग नहीं है। आपका कर्तव्य यह है कि गाँव वालों को सफ़ाई और तंदुरस्ती के पाठ पढ़ाएँ और इस तरह रोगों का इलाज करने के प्रयत्न के बजाय रोगों से बचने का मार्ग बताएँ। मैंने उनसे कहा कि उस भवन को छोड़ दीजिए और उसे लोकल बोर्ड को किराए पर देकर फूस के झोंपड़े में बल जाइए। दवा के तौर पर कुछ रखना है तो केवल कुनैन, अण्डी का तेल, आयोडीन या ऐसी ही अन्य कुछ चीज़ें रखी जाएँ। कार्यकर्ता को अपनी शक्ति इसी पर केन्द्रित करनी चाहिए कि लोग अपने शरीर और गाँव की स्वच्छता का महत्त्व अच्छी तरह समझ लें और उसे हर हालत में बनाए रखें।

इसके बाद वह गाँव के हरिजनों की भलाई में दिलचस्पी लेगा। उसका घर उनके लिए खुला रहेगा। वास्तव में वे अपने झगड़ों और कठिनाइयों में मदद के लिए कुदरती तौर पर उसी के

पास आएँगे अगर गाँव वालों को यह सहन न हो कि वह उनकी बस्ती में रहते हुए हरिजनों को अपने घर में आने दे, तो उसे अपना निवासस्थान हरिजन मुहल्ले में बना लेना चाहिए।

एक बात अक्षर-ज्ञान के बारे में। उसका स्थान तो है, मगर मैं आपको चेतावनी दे देता हूँ कि उस पर गलत जोर न दीजिए। यह मानकर न चलिए कि बच्चों या प्रौढ़ों को लिखना-पढ़ना सिखाए बिना आप ग्रामशिक्षा शुरू नहीं कर सकते। वर्णमाला को छूने से पहले बहुतसा उपयोगी ज्ञान मौजूदा हालत, इतिहास, भूगोल और प्रारंभिक अंकगणित के बारे में जबानी दिया जा सकता है। हाथों से पहले आँखों, कानों और जबान का नम्बर आता है। लिखने से पहले पढ़ने का और वर्णमाला के अक्षर बनाने से पहले ड्राइंग का स्थान है। यदि यह स्वाभाविक रीति काम में ली जाएँ, तो बच्चों की समझ का विकास अधिक होगा। बच्चों की शिक्षा का प्रारंभ वर्णमाला के साथ करने से उनका विकास रुक जाता है।

ग्रामसेवक का जीवन ग्राम-जीवन के साथ एकराग होगा। वह अपनी पुस्तकों में डूबा हुआ पंडित बनने का ढोंग नहीं करेगा और उसे रोजमर्रा की जिंदगी की छोटी-छोटी बातें सुनने से अरुचि नहीं होगी। इसके विपरीत, लोग जब भी उससे मिलेंगे तब उसे अपने औजारों से—चरखे, करघे, वसूले या फावड़े आदि से—काम करता हुआ और सदा उनके छोटे से छोटे प्रश्नों पर ध्यान देता हुआ पाएँगे। वह सदा अपनी रोजी के लिए काम करने का आग्रह रखेगा। ईश्वर ने सबको अपनी दैनिक आवश्यकताओं से अधिक उत्पन्न करने की शक्ति दी हैं; और अगर वह केवल सूझ-बूझ से काम ले तो उसे ऐसे धंधे का अभाव नहीं रहेगा, जो उसकी योग्यता के अनुकूल हो, चाहे वह योग्यता कितनी ही कम क्यों न हो। अधिक संभावना यही है कि लोग खुशी से उसके गुजारे का प्रबंध कर देंगे, लेकिन यह भी असंभव नहीं कि कुछ स्थानों पर उसकी उपेक्षा की जाएँ। मगर फिर भी वह कोई उद्योग करके अपना गुजारा कर लेगा। संभव है कि कुछ गाँवों में हरिजनों की तरफ़दारी के कारण उसका बहिष्कार किया जाय। उस सूरत में वह हरिजनों के पास जाय और उनसे भोजन की आशा रखे। काम करने वाले को खाना तो हमेशा मिलना ही चाहिए। और इसलिए यदि वह ईमानदारी से हरिजनों की सेवा करता है, तो उनसे भोजन लेने में उसे संकोच नहीं रखना चाहिए। शर्त हमेशा यही हो कि जितना ले उससे अधिक दे-दे। बेशक, शुरू की हालत

में जहाँ संभव हो वहाँ थोड़ा सा पैसा वह अपने गुजारे के लिए किसी केन्द्रीय कोष से ले सकता है।

याद रखिए हमारे हथियार आध्यात्मिक हैं। यह वह ताकत है जो अदृश्य रूप में काम करती है, मगर उसका कोई मुकाबला नहीं कर सकता। इसकी प्रगति जोड़ नियम से नहीं, गुणाकार के नियम से होती है। जब तक उसके पीछे कोई प्रेरक शक्ति होती है, तब तक वह कभी बंद नहीं होती। इसलिए आपकी सारी प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि आध्यात्मिक होनी चाहिए। चरित्र और व्यवहार की पूर्ण शुद्धता इसीलिए ज़रूरी है।

आप मुझसे यह न कहिए कि यह असंभव कार्यक्रम है और आप में इसकी योग्यता नहीं है। आप अब तक इसे पूरा नहीं कर सके, इससे आपके मार्ग में बाधा नहीं आनी चाहिए। अगर वह आपके हृदय और बुद्धि को जँचता है, तो आपको हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। आप प्रयोग से घबरायें नहीं। स्वयं प्रयोग से ही आपको अधिकाधिक प्रयत्न करने का प्रेरणा-बल मिलेगा।

[गूजरात विद्यापीठ के कार्यकर्ताओं में दिए गए एक प्रवचन से।]

हरिजन, ३१-८-१९३४

एक आदर्श भारतीय गाँव इस ढंग से बनाया जाएँगा कि उसमें पूरी सफ़ाई रखी जा सके। उसमें ऐसी कुटियाँ होंगी जिनमें काफ़ी हवा और रोशनी रहेगी और जो पाँच मील के घेरे में प्राप्त होने वाली सामग्री से बनी होंगी। कुटियों के आंगन होंगे, जिन में घर वाले धरू इस्तेमाल की सागभाजी उगा सकें और अपने मवेशी रख सकें। गाँव की गलियाँ और रास्तों में यथासंभव धूल नहीं होगी। उसमें गाँव की ज़रूरत के अनुसार कुएँ होंगे और उनसे सब पानी ले सकेंगे। वहाँ सबके लिए पूजास्थान होंगे, एक आम सभास्थान होगा, पशु चराने के लिए एक सम्मिलित चरागाह होगा, एक सहकारी दुग्धालय होगा, प्राथमिक और माध्यमिक पाठशालाएँ होंगी जिनमें औद्योगिक शिक्षा मुख्य वस्तु होगी और झगड़े निपटाने के लिए पंचायत होगी। वह अपना अनाज, अपनी सागभाजी, अपने फल और अपनी खादी आप तैयार कर लेगा। मोटे रूप में आदर्श ग्राम की मेरी यह कल्पना है। मौजूदा हालतों में उसकी झोंपड़ियाँ थोड़े से सुधार के साथ जैसी हैं वैसी ही रहेंगी।

जहाँ जमींदार भला होगा या लोगों में सहयोग होगा, वहाँ आदर्श कुटियों के सिवा लगभग सारे कार्यक्रम पर सरकारी सहायता के बिना उतने ही खर्च से अमल किया जा सकता है, जो जमींदार के या जमींदार-सहित गाँव वालों के साधनों के भीतर होगा। सरकारी मदद से तो गाँवों की पुनर्रचना का काम इतना बढ़ाया जा सकता है जिसकी कोई हद नहीं। परंतु अभी तो मेरा काम यह पता लगाना है कि देहातियों में आपस में सहयोग हो और वे सबकी भलाई के लिए स्वेच्छापूर्वक श्रमदान करें, तो वे खुद अपनी क्या सहायता कर सकते हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि उन्हें बुद्धिमानी से रास्ता बताया जाय, तो वे गाँव की आमदनी दुगुनी कर सकते हैं। व्यक्तिगत आय की बात अलग है। हमारे देहातों में असीम साधन हैं, जो व्यवसाय के लिए तो नहीं, परंतु स्थानीय कामों के लिए लगभग हर हालत में काफ़ी हैं। सबसे बड़ी दुःख की बात तो यह है कि ग्रामीण लोग अपनी हालत सुधारने के लिए बिलकुल तैयार नहीं हैं।

ग्रामसेवक को सबसे पहली समस्या सफ़ाई की हल करनी होगी। समस्याओं से कार्यकर्ता चकराते हैं और जिनसे ग्रामवासियों का स्वास्थ्य जर्जर हो जाता है तथा बीमारियाँ पैदा होती हैं, उन सबमें अधिक से अधिक उपेक्षा इस समस्या की जाती है। अगर कार्यकर्ता स्वेच्छापूर्वक भंगी बन जाएँ, तो वह मलमूत्र इकट्ठा करके उसका खाद बना लेगा और गाँव के रास्तों पर झाड़ू लगा देगा। वह लोगों को बताएगा कि कैसे और कहाँ उन्हें शौच जाना चाहिए। वह उन्हें सफ़ाई का महत्त्व और उसकी उपेक्षा करने से होने वाली महान हानि समझाएगा। गाँव वाले उसकी सुनें या न सुनें, कार्यकर्ता अपना काम जारी रखेगा।

हरिजन, ९-१-१९३७

अगर ग्राम-पुनर्रचना में देहातों की सफ़ाई को शामिल न किया गया, तो हमारे देहात जैसे आज कूड़ा-करकट के ढेर हैं वैसे ही बने रहेंगे। गाँव की सफ़ाई देहाती जीवन का प्राण है और जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही कठिन भी है। चिरकालीन गंदगी को मिटाने के लिए वीरोचित प्रयत्न की आवश्यकता है। जो ग्रामसेवक ग्राम-सफ़ाई के विज्ञान से अनभिज्ञ है, जो सफल मेहतर नहीं है, वह ग्रामसेवा के योग्य नहीं हो सकता।

यह आम तौर पर मान लिया गया दीखता है कि नई या बुनियादी तालीम के बगैर भारत में करोड़ों बच्चों की शिक्षा लगभग नामुमकिन है। इसलिए ग्रामसेवक को उसमें प्रवीण होकर स्वयं बुनियादी तालीम का एक शिक्षक बन जाना चाहिए।

बुनियादी शिक्षा के बाद प्रौढ़-शिक्षा अपने-आप आ जाएँगी। जहाँ इस नई तालीम की जड़ जम जाती है, वहाँ बच्चे खुद अपने माँ-बाप के शिक्षक बन जाते हैं। कुछ भी हो, ग्रामसेवकों को प्रौढ़-शिक्षा का काम भी हाथ में लेना पड़ेगा।

स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी बताया गया है। जब तक कानून से स्त्री को पुरुष जैसे ही अधिकार नहीं मिल जाते और जब तक लड़की के जन्म का वैसा ही स्वागत नहीं होने लगता जैसा लड़के के जन्म का होता है, तब तक हमें समझ लेना चाहिए कि भारत एक हद तक पक्षाघात से पीड़ित रहेगा। स्त्री का दमन अहिंसा से इनकार करना है। इसलिए प्रत्येक ग्रामसेवक हर स्त्री को स्थिति के अनुसार अपनी माता, बहन या पुत्री समझेगा और उसे आदर की दृष्टि से देखेगा। ऐसे ही कार्यकर्ता पर ग्रामीण लोगों का विश्वास रहेगा।

किसी भी अस्वस्थ जाति के लिए स्वराज्य लेना असंभव है। इसलिए हमें अपनी जनता के स्वास्थ्य की उपेक्षा करने का अपराधी नहीं बनना चाहिए। प्रत्येक ग्रामसेवक को स्वास्थ्य के सामान्य सिद्धांतों का ज्ञान होना ही चाहिए।

एक सामान्य भाषा के बिना कोई राष्ट्र नहीं बन सकता। ग्रामसेवक हिंदी, हिंदुस्तानी और उर्दू के विवाद की झंझट में न पड़कर राष्ट्रभाषा का ज्ञान प्राप्त कर लेगा। राष्ट्रभाषा ऐसी होनी चाहिए, जिसे हिंदु और मुसलमान दोनों समज सकें।

हमारे अंग्रेजी के पीछे पागल हो जाने के कारण हम प्रांतीय भाषाओं के प्रति वफ़ादार नहीं रहे। और कुछ नहीं तो इस बेवफाई के प्रायश्चित के तौर पर ही ग्रामसेवकों को देहातियों में अपनी भाषा का प्रेम पैदा करना चाहिए। उनमें भारत की दूसरी भाषाओं के प्रति समान आदरभाव होना चाहिए। और जिस प्रदेश में वे काम कर रहे हैं, वहाँ की भाषा सीखकर देहातियों को अपनी ही भाषा के प्रति आदरभाव रखने की प्रेरणा देनी चाहिए।

किंतु यह सारा कार्यक्रम बालू पर महल बनाने जैसा होगा, अगर इसकी रचना आर्थिक समानता की ठोस बुनियादी पर नहीं की जाएँगी। आर्थिक समानता का यह अर्थ कभी नहीं मान लेना चाहिए कि सबके पास सांसारिक संपत्ति समान मात्रा में होगी। परंतु इसका मतलब यह ज़रूर है कि हरएक के पास रहने को उपर्युक्त घर होगा, खाने को काफ़ी और संतुलित आहार होगा और तन ढंकने को पर्याप्त खादी होगी। इसके यह मानी भी होंगे कि जो निर्दय असमानता आज मौजूद है, वह शुद्ध अहिंसक उपायों से ही मिटाई जाएँगी।

हरिजन, १८-८-१९४०

गाँव के लिए लक्ष्य

ग्राम-स्वराज्य की मेरी कल्पना यह है कि प्रत्येक गाँव संपूर्ण गणराज्य होना चाहिए, जो अपनी जीवन-संबंधी आवश्यकताओं के लिए अपने पड़ोसियों से स्वतंत्र हो और फिर भी अन्य बहुत सी बातों में, जिनमें आश्रितता ज़रूरी है, वे एक-दूसरे पर निर्भर रहें। इस प्रकार प्रत्येक गाँव का पहला काम यह होगा कि वह खाने के लिए अपना अनाज़ और कपड़े के लिए अपनी कपास उगाए। पशुओं के लिए उसका अपना चरागाह होना चाहिए और बालिगों तथा बच्चों के लिए मनोरंजन और खेल-कूद के स्थान होने चाहिए। इसके बाद अगर और ज़मीन उपलब्ध हो, तो वह रुपया पैदा करने वाली उपयोगी फसलें उगाएगा और इस प्रकार गांजा, अफीम, तम्बाकू वगैरा का बहिष्कार करेगा। गाँव की अपनी ग्रामनाटक-शाला, पाठशाला और अपना सभा-भवन होगा। उसकी अपनी पानी की योजना होगी, जिससे साफ़ पानी मिलता रहेगा। यह प्रबंध नियंत्रित कुओं और तालाबों से किया जा सकता है। बुनियादी पाठ्यक्रम के अंत तक शिक्षा अनिवार्य होगी। जहाँ तक संभव होगा सब काम सहकारी ढंग से किए जाएँगे। उसमें आज जैसी ऊपर से नीचे तक छुआछूत वाली जातिप्रथा नहीं होगी। अहिंसा और उसके साधन-रूप सत्याग्रह और असहयोग इस ग्राम-समाज के बल होंगे। ग्राम-रक्षकों को गाँव की चौकी का काम अपनी बारी के अनुसार अनिवार्य रूप से करना होगा। इसके लिए योग्य ग्रामवासियों के नाम गाँव के रजिस्टर में दर्ज रहेंगे। गाँव का शासन पाँच आदमियों की पंचायत करेगी, जो गाँव के ऐसे व्यस्क स्त्री-पुरुषो द्वारा

हर साल चुनी जाएँगी जिनकी कम से कम निश्चित योग्यता होगी। उसके पास सारी आवश्यकता सत्ता और न्यायाधिकार होगा। चूँकि प्रचलित अर्थ में कोई दंड-व्यवस्था नहीं होगी, इसलिए पंचायत को एक साथ कानून बनाने, न्याय करने और प्रबंध के अधिकार अपने वर्ष भर के कार्यकाल के लिए प्राप्त होंगें। आज भी कोई गाँव इस प्रकार का गणतंत्र बन सकता है और उसमें किसीका—सरकार का भी—दखल नहीं होगा, क्योंकि उसका देहात के साथ एकमात्र कारगर संबंध लगान-वसूली का है। मैंने यहाँ पड़ोस के गाँवों के साथ और कोई केन्द्रिय सरकार हो तो उसके साथ के संबंधों के प्रश्न का विवेचन नहीं किया है। मेरा उद्देश्य ग्राम-शासन का नकशा पेश करना है। इस शासन-व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के आधार पर पूर्ण लोकतंत्र है। व्यक्ति अपने शासन का आप ही निर्माता है। उस पर और उसकी सरकार पर अहिंसा के कानून का राज्य होता है। उसमें और उसके गाँव में दुनियाभर की ताकत का सामना करने का सामर्थ्य होता है, क्योंकि प्रत्येक ग्रामीण के लिए मुख्य धर्म यह है कि वह अपनी और अपने गाँव की इज्जत की रक्षा में अपने प्राण दे दे।

हरिजन, २६-७-१९४२

४. खादी और कताई

खादी देश में सबकी आर्थिक स्वतंत्रता और समानता के प्रारंभ का चिह्न है। उसे उसके सारे फलितार्थो सहित स्वीकार करना चाहिए। उसका अर्थ है संपूर्ण स्वदेशी मनोवृत्ति रखना और जीवन की सारी आवश्यक वस्तुएँ भारत में ही और वह भी देहातियों की मेहनत और बुद्धि से प्राप्त करना। देहात अधिकतर बातों में आत्म-निर्भर होंगे और भारत के शहरों और बाहरी दुनिया तक की स्वेच्छापूर्वक सेवा करेंगे, जहाँ तक उससे दोनों पक्षों को लाभ होता रहेगा।

इसके लिए बहुत से लोगों की मनोवृत्ति और रुचियों में क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। यद्यपि कई बातों में अहिंसक मार्ग सरल है, मगर बहुत सी बातों में वह बड़ा कठिन भी है। वह प्रत्येक भारतीय के जीवन के मर्म को स्पर्श करता है, उसे अपने भीतर छुपी हुई

ताकत होने का भान कराता है और उसे इस बात का गर्व महसूस कराता है कि उसका भारतीय जनता के महासागर की प्रत्येक बूँद के साथ तादात्म्य है।

मेरे लिए खादी भारतीय मानव-समाज की एकता, उसकी आर्थिक स्वतंत्रता और समानता का प्रतीक है और इसलिए अंत में वह जवाहरलाल नेहरू के काव्यमय शब्दों में 'हिंदुस्तान की आज़ादी की वर्दी' है।

इसके सिवा, खादी मनोवृत्ति का अर्थ है जीवन के आवश्यक पदार्थों के उत्पादन और वितरण का विकेन्द्रीकरण। इसलिए अब तक जो सूत्र बन पाया है वह यह है कि प्रत्येक गाँव अपनी ज़रूरत की तमाम चीज़ें पैदा कर ले और शहरों की आवश्यकताओं के लिए कुछ फीसदी उत्पत्ति और भी कर ले।

खादी के फलितार्थ समझा चुकने पर मुझे यह बताना चाहिए कि खादी के प्रचार के लिए काँग्रेसजन क्या कर सकते हैं और उन्हें क्या करना चाहिए, खादी के उत्पादन में कपास उपजाना, चुनना, लोढ़ना, साफ करना, घुनना, पूनियाँ बनाना, कातना, मांड़ लगाना, रंगना, ताना-बाना तैयार करना, बुनना और धोना शामिल हैं। रंगाई के सिवा ये सब आवश्यक प्रक्रियाएँ हैं। ये सब गाँवों में सफलपूर्वक की जा सकती हैं और भारत के जिन गाँवों में चरखा-संघ काम कर रहा है वहाँ की जा रही हैं।

अगर काँग्रेसजन खादी-संबंधी काँग्रेस की पुकार के प्रति सच्चे हों, तो वे चरखा-संघ की समय-समय पर जारी की हुई उन हिदायतों पर अमल करेंगे, जिनमें बताया जाता है कि खादी-योजना में वे क्या भाग अदा कर सकते हैं। यहाँ तो थोड़े से व्यापक नियम ही दिए जा सकते हैं:

१. जिस किसी परिवार के पास ज़मीन का टुकड़ा हो, वह कम से कम घर के उपयोग के लिए कपास उगा सकता है। कपास उगाने की प्रक्रिया आसान है। बिहार में किसानों को अपनी ३/२० खेती के योग्य ज़मीन में नील उगाने के लिए कानूनन् मज़बूर किया जाता था। यह विदेशी निलहों के हित में होता था। तो फिर हम राष्ट्र के लिए स्वेच्छापूर्वक्क अपनी ज़मीन के एक निश्चित भाग में कपास क्यों नहीं उगा सकते? पाठक देखेंगे कि विकेन्द्रीकरण

खादी की प्रक्रियाओं के प्रारंभ से ही शुरू होता है। आजकल कपास की फसल केन्द्रित है और भारत के दूर-दूर के भागों में भेजी जाती है। लड़ाई से पहले वह मुख्यतः ब्रिटेन और जापान भेजी जाती थी। वह पहले भी रुपया पैदा करने वाली फसल थी और अब भी है, इसलिए उसके भावों में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। खादी-योजना के अनुसार कपास उगाने में इस अनिश्चितता और जुए की गुंजाइश नहीं रहती। उगाने वाला उतनी ही कपास उगाता है जितनी की उसे ज़रूरत है। किसान को यह जानना चाहिए कि उसका पहला काम अपनी ही आवश्यकता के लिए पैदा करना है। जब वह ऐसा करेगा तो बाज़ार की मंदी से उसके बरबाद होने की संभावना कम हो जाएँगी।

२. प्रत्येक कातने वाला लोढ़ने के लिए काफ़ी कपास खरीद लेगा, अगर उसके पास अपनी कपास नहीं है। लोढ़ने का काम वह चरखों के बिना भी आसानी से कर सकता है। वह अपने हिस्से की कपास सलाई और पटरी से लोढ़ सकता है। जहाँ यह अव्यावहारिक समझा जाएँ, वहाँ हाथ की ओटी हुई कपास खरीद कर धुन लेना चाहिए। अपने लिए घुनाई एक छोटी-सी पींजन से बहुत परिश्रम किए बिना ही अच्छी तरह की जा सकती है। श्रम जितना विकेन्द्रित होगा, औज़ार उतने ही सस्ते और सादे होंगे। पूनियाँ बनते ही कताई की प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

जरा कल्पना तो कीजिए कि सारा राष्ट्र कताई तक की प्रक्रियाओं में एक साथ भाग ले, तो एकता और शिक्षा की दृष्टि से उसका कितना असर होगा। साथ-साथ श्रम करने से गरीब-अमीर को बराबर करने वाला जो परिणाम होगा उस पर विचार कीजिए।

अगर काँग्रेसजन दिल से इस काम में जुट जाएँ, तो वे औज़ारों में सुधार कर लेंगे और अनेक आविष्कार करेंगे। हमारे देश में श्रम और बुद्धि में संबंध-विच्छेद रहा है। नतीजा यह हुआ कि हम जहाँ के तहाँ रह गए। अगर दोनों में अविच्छेद्य संबंध हो और वह भी यहाँ सुझाए गए तरीके पर हो, तो उसके परिणाम स्वरूप होने वाली भलाई का हिसाब नहीं लगाया जा सकता।

यज्ञ के रूप में राष्ट्रव्यापी कताई की इस योजना में मैं यह आशा नहीं रखता कि औसत स्त्री या पुरुष इस काम के लिए एक घंटा रोज से ज्यादा वक्त देंगे।

रचनात्मक कार्यक्रम, १९४५; पृ॰ ११-१४

चरखे का संदेश

चरखे का संदेश उसकी परिधि से कहीं ज्यादा व्यापक है। वह सादगी, मानव-सेवा व अहिंसामय जीवन का तथा गरीब और अमीर, पूँजी और श्रम, राजा और किसान के बीच अविच्छेद्य संबंध स्थापित करने का संदेश देता है।

यंग इंडिया, १७-९-१९२५

'सर्वोदय' शब्द के जो फलितार्थ निकलते हैं, उनकी मैं हिमायत करता हूँ। हमें छोटे से छोटे मनुष्य के साथ वैसा ही बरताव करना चाहिए, जैसा हम चाहते हैं कि दुनिया हमारे साथ करे। सबको समान अवसर मिलना चाहिए। अवसर मिलने पर सभी मनुष्य आध्यात्मिक विकास कर सकते हैं। चरखा इसी बात का प्रतीक है।

हरिजन, १७-११-१९४६

यज्ञ के रूप में कताई

'मुझे खाने के लिए काम करने की ज़रूरत ही नहीं है, तो फिर मैं क्यों कातूं?' यह सवाल पूछा जा सकता है। चूँकि जो चीज़ मेरी नहीं है उसे मैं खा रहा हूँ, इसलिए मुझे कातना चाहिए। मैं अपने देशवासियों की लूट पर गुज़र कर रहा हूँ। पता लगाइए कि आपकी जेब में एक-एक पाई जो आती है, वह कैसे और कहाँ से आती है। तब मैं जो लिख रहा हूँ उसकी सचाई आपकी समझ में अच्छी तरह आ जाएँगी।

मुझे नंगों को जिन कपड़ों की उन्हें ज़रूरत नहीं वे कपड़े देकर और जिस काम की उन्हें अत्यंत आवश्यकता है वह काम न देकर उनका अपमान नहीं करना चाहिए। मैं उन पर कृपा करने

का पाप नहीं करूँगा। परंतु यह जान लेने पर कि उन्हें दरिद्र बनाने में मैंने भी मदद की है, मैं न तो उन्हें टुकड़े डालूँगा और न उतरे हुए कपड़े दूँगा, बल्कि अपना अच्छे से अच्छा भोजन-वस्त्र उन्हें दूँगा और उनके साथ काम में शरीक होऊँगा।

ईश्वर ने इन्सान को अपने भोजन के लिए काम करने को बनाया है और कहा है कि जो लोग काम किए बिना खाते हैं वे चोर हैं।

यंग इंडिया, १३-१०-१९२१

सेवा की जड़ में जब तक प्रेम या अहिंसा न हो तब तक सेवा नहीं हो सकती। सच्चा प्रेम महासागर की भाँति असीम होता है और हमारे भीतर ही भीतर उठता और उमड़ता हुआ बाहर फैल जाता है तथा सारी सीमाओं और सरहदों को पार करता हुआ पूरी दुनिया को व्याप्त कर लेता है। साथ ही यह सेवा शरीर-श्रम के बिना भी असंभव है, जिसे गीताने दूसरे शब्दों में यज्ञ कहा है। जब कोई स्त्री या पुरुष सेवा के खातिर शरीर-श्रम करता है, तभी उसे जीने का हक मिलता है।

यंग इंडिया, २०-९-१९२८

मेरे विचार से यज्ञ के रूप में कताई ही सबसे उपयुक्त और अपनाने लायक शरीर-श्रम हो सकता है। मैं इससे अधिक पवित्र या राष्ट्रीय अन्य किसी वस्तु की कल्पना नहीं कर सकता कि हम सब घंटेभर रोज वही परिश्रम करें जो गरीबों को करना पड़ता है और इस प्रकार हम उनके साथ और उनके द्वारा सारी मानव-जाति के साथ एक हो जाएँ। मैं इससे अच्छी ईश्वर-पूजा की कल्पना नहीं कर सकता कि उसके नाम पर गरीबों के लिए मैं भी उसी तरह श्रम करूँ जैसे वे करते हैं। चरखे में दुनिया की दौलत का अधिक न्यायपूर्ण बँटवारा निहित है।

यंग इंडिया, २०-१०-१९२१

मैं आपसे अनुरोध करता हूँ कि गरीबों के लिए छोटासा यज्ञ करके उन्हें कुछ तो बदला दीजिए। कारण, गीता कहती है कि जो यज्ञ किए बिना खाता है वह चोरी करता है। हमारे युग का

और हमारे लिए यह यज्ञ चरखा ही है। मैं नित्य इसकी चर्चा करता हूँ और इसके विषय में लिखता रहता हूँ। ।

यंग इंडिया, २०-१-१९२७

ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में कताई का स्थान

जब हम एक (खादी के) उद्योग का पुनरुद्धार कर लेंगे, तो और सब उद्योगों का उद्धार अपने-आप हो जाएँगा। मैं चरखे को आधार बनाकर सम्यक् ग्राम-जीवन की रचना करना चाहूँगा; मैं चरखे को केन्द्र बना कर ऐसी व्यवस्था करूँगा कि उसके चारों ओर दूसरे उद्योग पनपते रहें।

यंग इंडिया, २१-५-१९२५

चरखा प्रत्येक घर के लिए एक उपयोगी और अनिवार्य वस्तु है। वह राष्ट्र की खुशहाली और इसलिए आज़ादी का निशान है। वह व्यावसायिक युद्ध का नहीं, परंतु व्यावसायिक शांति का प्रतीक है। उसमें संसार के राष्ट्रों के प्रति दुर्भाव का नहीं, बल्कि सद्भाव और स्वावलंबन का संदेश है। उसे संसार की शांति के लिए खतरा पैदा करने वाली और उसके साधनों का शोषण करने वाली जल सेना की ज़रूरत नहीं है, परंतु करोड़ों लोगों के इस धार्मिक संकल्प की आवश्यकता है कि जैसे वे आजकल अपने-अपने घरों में अपना खाना पका लेते हैं, वैसे ही अपने-अपने घरों में अपना सूत भी कात लें।

यंग इंडिया, ८-१२-१९२१

हाथ-कताई का यह उद्देश्य नहीं है कि वह किसी मौजूदा ढंग के उद्योग का स्थान लेने के लिए उससे स्पर्धा करे, और न वह ऐसी स्पर्धा करती ही है। उसका यह लक्ष्य नहीं कि एक भी सशक्त आदमी को, जो कोई दूसरा काम करके अच्छी रोजी कमा सकता है। उसकी जगह से हटाया जाएँ। उसकी तरफ़ से तो केवल एक ही दावा किया जाता है कि भारत के सामने जो सबसे बड़ी समस्या है, उसका कोई तुरंत काम में आने लायक और स्थायी हल सिर्फ वही पेश करती है। वह समस्या यह है कि भारत की आबादी का बहुत बड़ा भाग वर्ष में लगभग छह महीने मज़बूरन्

बेकार रहता है, क्योंकि खेती के उद्योग के साथ उसके पास कोई सहायक धंधा नहीं है और इससे जनसाधारण में भुखमरी का रोग पुराना हो गया है।

यंग इंडिया, २१-१०-१९२६

भूखों मरने वाले इन्सान को सबसे पहले पेट की सूझती है। वह रोटी के टुकड़े के लिए अपनी आज़ादी और सब-कुछ बेच देगा। भारत के करोड़ों लोगों का यही हाल है। उनके लिए स्वतंत्रता, ईश्वर और ऐसे तमाम शब्द निरे अक्षर हैं, जो किसी भी अर्थ के बिना यों ही जोड़कर रख दिए गए हैं। ये उन्हें खटकते हैं। अगर हमें उन लोगों में स्वतंत्रता की भावना पैदा करनी है, तो हमें उन्हें ऐसा काम जुटाकर देना होगा, जिसे वे अपने वीरान घरों में आसानी से कर सकें और जिससे कम से कम उनका गुजर तो हो जाए। यह काम चरखे द्वारा ही किया जा सकता है। और जब वे स्वावलंबी बन जाएँगे और अपना गुजर स्वयं करने योग्य हो जाएँगे, तब हम उनसे आज़ादी और काँग्रेस वगैरा की चर्चा करने की स्थिति में होंगे। इसलिए जो लोग उन्हें काम और रोटी का टुकड़ा मिलने के साधन दिलाएँगे, वे उनके उद्धारक होंगे और वे ही उनमें आज़ादी की भूख जगाने वाले लोग होंगे। इसलिए चरखे का बड़ा राजनीतिक महत्त्व है।

यंग इंडिया, १८-३-१९२६

इसके लिए कार्यकर्ताओं को जनसाधारण के साथ अत्यंत गहरा संपर्क रखकर एक हो जाने की ज़रूरत होगी। अगर यह काम सफल हो गया, तो इसका फल यह होगा कि विदेशी कपड़ा बिलकुल नहीं रहेगा और भारत की वर्तमान शासन-व्यवस्था पर विदेशी पूँजी का जो जहरीला असर है, वह बिलकुल नष्ट न हुआ तो भी कम ज़रूर हो जाएगा। यह उसका बहुत महत्त्वपूर्ण राजनीतिक परिणाम होगा।

यंग इंडिया, ५-५-१९२७

खादी का आदर्श सदा ही ग्रामों के पुनरुद्धार का सबसे बढ़िया साधन रहा है। इसके जरिए गरीबों में सच्ची शक्ति पैदा होगी, जिससे स्वराज्य अपने-आप आ जाएँगा।

(*स्वराज थ्रू चरखा* –कनु गांधी द्वारा संकलित, १९४५; पृ॰ ८)

मुझे अपना अनुभव बताता है कि खादी को शहरों और गाँवों दोनों में सर्वव्यापी बनाने के लिए यह ज़रूरी है कि वह सूत के बदले में ही मिले। मुझे आशा है कि जैसे-जैसे समय बीतेगा लोग स्वयं यह आग्रह करेंगे कि सूत के सिक्के के द्वारा खादी खरीदें। लेकिन ऐसा न हुआ और लोगोंने सूत अनिच्छा से पैदा किया, तो मुझे डर है कि अहिंसा के द्वारा स्वराज्य असंभव हो जाएँगा।

यह निश्चित है कि मिलों और शहरों की संख्या बढ़ने से हिंदुस्तान के करोड़ों लोगों की खुशहाली में मदद नहीं मिलेगी। उलटे, उससे बेकारों की ग़रीबी और बढ़ जाएगी और भूख से पैदा होने वाले तमाम रोग फैल जाएँगे। अगर इस दृश्य को शहरों में रहने वाले लोग शांतचित्त होकर देख सकें, तो कहने को कुछ नहीं रह जाता। वैसी सूरत में भारत में सत्य और अहिंसा का राज्य न होकर हिंसा का बोलबाला हो जाएँगा। और हमें मान लेना पड़ेगा कि कुदरती तौर पर खादी के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। फिर तो सबके लिए फौज़ी तालीम लाज़िमी हो जाएँगी। परंतु हमें करोड़ों भूखों की दृष्टि से सोचना चाहिए। अगर उन्हें फिर से जीवन-दान देना है, उन्हें जिंदा रखना है, तो चरखे को मुख्य प्रवृत्ति बनाना पड़ेगा और लोगों को स्वेच्छा से कातना होगा।

स्वराज थ्रू चरखा, १९४५; पृ॰ ५

५. शिक्षा और संस्कृति

शिक्षा

अहिंसक प्रतिरोध सबसे उदात्त और बढ़िया शिक्षा है। वह बच्चों को मिलने वाली साधारण अक्षर-ज्ञान की शिक्षा के बाद नहीं, पहले होनी चाहिए। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि बच्चे को, वह वर्णमाला लिखे और सांसारिक ज्ञान प्राप्त करे उसके पहले, यह जानना चाहिए कि आत्मा क्या है, सत्य क्या है, प्रेम क्या है और आत्मा में क्या-क्या शक्तियाँ छुपी हुई हैं। शिक्षा का ज़रूरी अंग यह होना चाहिए कि बालक जीवन-संग्राम में प्रेम से घृणा को, सत्य से असत्य को और कष्ट-सहन से हिंसा को आसानी के साथ जीतना सीखे। इस सत्य का बल अनुभव करने के कारण ही मैंने सत्यागृह-संग्राम के उत्तरार्ध में पहले टॉल्स्टॉय फार्म में और बाद में फिनिक्स आश्रम में बच्चों को इसी ढंग की तालीम देने की भरसक कोशिश की थी।

स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्प ऑफ महात्मा गांधी, चौथा संस्करण; पृ॰ १८९

मेरी राय में बुद्धि की सच्ची शिक्षा शरीर की स्थूल इन्द्रियों अर्थात् हाथ, पैर, आँख, कान, नाक वगैरा के ठीक-ठीक उपयोग और तालीम के द्वारा ही हो सकती है। दूसरे शब्दों में, बच्चे द्वारा इन्द्रियों का बुद्धिपूर्वक उपयोग उसकी बुद्धि के विकास का उत्तम और जल्द से जल्द तरीका है। परंतु शरीर और मस्तिष्क के विकास के साथ आत्मा की जागृति भी उतनी ही नहीं होगी, तो केवल बुद्धि का विकास घटिया और एकांगी वस्तु ही साबित होगा। आध्यात्मिक शिक्षा से मेरा मतलब हृदय की शिक्षा है। इसलिए मस्तिष्क का ठीक-ठीक और सर्वांगीण विकास तभी हो सकता है, जब साथ-साथ बच्चे की शारीरिक और आध्यात्मिक शक्तियों की भी शिक्षा होती रहे। ये सब बातें अविभाज्य हैं। इसलिए इस सिद्धांत के अनुसार यह मान लेना घोर कुतर्क होगा कि उनका विकास अलग अलग या एक-दूसरे से स्वतंत्र रूप में किया जा सकता है।

हरिजन, ८-५-१९३७

शिक्षा से मेरा अभिप्राय यह है कि बच्चे और मनुष्य के शरीर, बुद्धि और आत्मा के सभी उत्तम गुणों को प्रगत किया जाए। पढ़ना-लिखना शिक्षा का अंत तो है ही नहीं; वह आदि भी नहीं

है। वह पुरुष और स्त्री को शिक्षा देने के साधनों में से केवल एक साधन है। साक्षरता स्वयं कोई शिक्षा नहीं है। इसलिए मैं तो बच्चे की शिक्षा का प्रारंभ इस तरह करूँगा कि उसे कोई उपयोगी दस्तकारी सिखाई जाए और जिस क्षण से वह अपनी तालीम शुरू करे उसी क्षण से उसे उत्पादन का काम करने योग्य बना दिया जाए।

मेरे मतानुसार इस प्रकार की शिक्षा-पद्धति में मस्तिष्क और आत्मा का उच्चतम विकास संभव है। इतनी ही बात है कि आजकल की तरह प्रत्येक दस्तकारी केवल यांत्रिक ढंग से न सिखाकर वैज्ञानिक ढंग से सिखानी पड़ेगी। अर्थात् बच्चे को प्रत्येक प्रक्रिया का कारण जानना चाहिए।

हरिजन, ३१-७-१९३७

मैं चाहता हूँ कि सारी शिक्षा किसी दस्तकारी या उद्योग के द्वारा दी जाएँ।

आपको यह ध्यान में रखना चाहिए कि इस प्रारंभिक शिक्षा में सफ़ाई, तंदुरुस्ती, भोजनशास्त्र, अपना काम आप करने और घर पर माता-पिता को मदद देने वगैरा के मूल सिद्धांत शामिल होंगे। मौजूदा पीढ़ी के लड़कों को स्वच्छता और स्वावलंबन का कोई ज्ञान नहीं होता और वे शरीर से कमज़ोर होते हैं। इसलिए मैं संगीतमय कवायद के जरिए उनको अनिवार्य शारीरिक तात्लीम दिलवाऊँगा।

हरिजन, ३०-१०-१९३७

इस प्रकार कताई और घुनाई जैसे ग्रामोद्योगों द्वारा प्राथमिक शिक्षा देने की मेरी योजना में कल्पना यह है कि यह एक ऐसी शांत सामाजिक क्रांति की अग्रदूत बने, जिसमें अत्यंत दूरगामी परिणाम भरे हुए हैं। इससे नगर और ग्राम के संबंधों का एक स्वास्थ्यप्रद और नैतिक आधार प्राप्त होगा और समाज की मौजूदा अरक्षित अवस्था और वर्गों के परस्पर विषाक्त संबंधों की कुछ बड़ी से बड़ी बुराइयों को दूर करने में बहुत सहायता मिलेगी। इससे हमारे देहातों का दिन-दिन बढ़ने वाला ऱ्हास रुक जाएँगा और एक ऐसी अधिक न्यायपूर्ण व्यवस्था की बुनियाद पड़ेगी, जिसमें गरीब-अमीर का अप्राकृतिक भेद न हो और हरएक के लिए गुज़र के लायक कमाई और स्वतंत्रता

के अधिकार का आश्वासन हो। और वह सब किसी भयंकर और रक्तरंजित वर्गयुद्ध अथवा बहुत भारी पूँजी के व्यय के बिना ही हो जाएँगा। भारत जैसे विशाल देश का यंत्रीकरण किया गया, तो इन दोनों बातों में से एक तो ज़रूर होगी। मेरी योजना में विदेशों से मँगाई हुई मशीनरी या वैज्ञानिक और यांत्रिक दक्षता पर भी लाचार होकर निर्भर करने की ज़रूरत नहीं पड़ेगी। आखिरी बात यह है कि बड़े-बड़े विशेषज्ञों की बुद्धि की ज़रूरत न होने के कारण एक तरह से जनसाधारण के भाग्य का निपटारा स्वयं उन्हीं के हाथमें रहेगा।

हरिजन, ९-१०-१९३७

शिक्षा का ध्येय

प्र॰—जब भारत को स्वराज्य मिल जाएँगा तब शिक्षा का आपका क्या ध्येय होगा?

उ॰—चरित्र-निर्माण। मैं साहस, बल, सदाचार और बड़े लक्ष्य के लिए काम करने में आत्मोत्सर्ग की शक्ति का विकास कराने की कोशिश करूँगा। यह साक्षरता से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है; किताबी ज्ञान तो उस बड़े उद्देश्य का एक साधनमात्र है।

प्र॰—क्या शिक्षा के जरिए आप किसी खास तरह का सामाजिक संगठन पैदा करने का प्रयत्न करेंगे?

उ॰—मेरा खयाल है कि अगर व्यक्ति का चरित्र-निर्माण करने में हम सफल हो जाएँगे, तो समाज अपना काम आप सँभाल लेगा। इस प्रकार जिन व्यक्तियों का विकास हो जाएँगा, उनके हाथों में समाज के संगठन का काम मैं खुशी से सौंप दूँगा।

(*रीमेकर्स ऑफ मेनकाइण्ड*, लेखक—कार्ल्टन बाशबर्न, १९३२; पृ॰ १०४-०५)

दूसरी संस्कृतियों का ज्ञान

मैं चाहता हूँ कि उस भाषा (अंग्रेजी) में और इसी तरह संसार की अन्य भाषाओं में जो ज्ञान-भंडार भरा पड़ा है, उसे राष्ट्र अपनी ही देशी भाषाओं के द्वारा प्राप्त करे। मुझे रवीन्द्रनाथ की अपूर्व रचनाओं की खूबियाँ जानने के लिए बंगला सीखने की ज़रूरत नहीं। वे मुझे अच्छे अनुवादों

से मिल जाती हैं। गुजराती लड़कों और लड़कियों को टॉल्स्टॉय की छोटी-छोटी कहानियों से लाभ उठाने के लिए रूसी भाषा सीखने की आवश्यकता नहीं। वे तो उन्हें अच्छे अनुवादों के जरिए सीख लेते हैं। अंग्रेजों को यह गर्व है कि संसार में जो उत्तम साहित्य उत्पन्न होता है, वह प्रकाशित होने के एक सप्ताह के भीतर सीधी-सादी अंग्रेजी में उस राष्ट्र के हाथों में आ जाता है। शेक्सपीयर और मिल्टन ने जो कुछ सोचा या लिखा है, उसके उत्तम भाग को प्राप्त करने के लिए मुझे अंग्रेजी सीखने की ज़रूरत क्यों हो?

यह अच्छी मितव्ययिता होगी यदि हम विद्यार्थियों का एक अलग वर्ग ऐसा रख दें, जिसका काम यह हो कि संसार की भिन्न-भिन्न भाषाओं में से सीखने की उत्तम बातें वह जान ले और उनके अनुवाद देशी भाषाओं में करके देता रहे।

हरिजन, ९-७-१९३८

सांस्कृतिक विकास

यह बात मेरे विचार में भी नहीं आ सकती कि हम कूपमंडूक बन जाएँ या अपने चारों ओर दीवारें खड़ी कर लें। मगर मेरा नम्रतापूर्वक यह कथन ज़रूर है कि दूसरी संस्कृतियों की समझ और कद्र स्वयं अपनी संस्कृति की कद्र होने और उसे हजम कर लेने के बाद होनी चाहिए, पहले हरगिज नहीं। मेरा दृढ़ मत है कि कोई संस्कृति इतने रत्न-भण्डार से भरी हुई नहीं है जितनी हमारी अपनी संस्कृति है। हमने उसे जाना नहीं है। हमें तो उसके अध्ययन को तुच्छ मानना और उसका मूल्य कम करना सिखाया गया है। हमने उसके अनुसार जीवन बिताना छोड़ दिया है। उसका ज्ञान भी हो, मगर उस पर अमल न किया जाए, तो वह मसाले में रखी हुई लाश जैसी है, जो शायद दीखने में सुंदर हो, परंतु उससे कोई प्रेरणा या पवित्रता प्राप्त नहीं होती। मेरा धर्म जहाँ यह आग्रह रखता है कि स्वयं अपनी संस्कृति को हृदयांकित करके उसके अनुसार आचरण किया जाए—क्योंकि वैसा न किया जाए तो उसका परिणाम सामाजिक आत्महत्या होगा—वहाँ वह दूसरी संस्कृतियों को तुच्छ समझने या उनकी उपेक्षा करने का निषेध भी करता है।

यंग इंडिया, १-९-१९२१

भारत की भावी संस्कृति

कोई संस्कृति जिंदा नहीं रह सकती, अगर वह दूसरों का बहिष्कार करने की कोशिश करती है। इस समय भारत में शुद्ध आर्य संस्कृति जैसी कोई चीज़ मौजूद नहीं है। आर्य लोग भारत के ही रहने वाले थे या जबरन् यहाँ आ घुसे थे, इसमें मुझे बहुत दिलचस्पी नहीं है। मुझे जिस बात में दिलचस्पी है वह यह है कि मेरे पूर्वज एक-दूसरे के साथ बड़ी आज़ादी के साथ मिल गए और मौजूदा पीढ़ी वाले हम लोग उस मिलावट की ही उपज हैं।

हरिजन, ९-५-१९३६

मैं नहीं चाहता कि मेरे घर के चारों ओर दीवारें खड़ी कर दी जाएँ और मेरी खिड़कियाँ बंद कर दी जाएँ। मैं चाहता हूँ कि सब देशों की संस्कृतियों की हवा मेरे घर के चारों ओर अधिक से अधिक स्वतंत्रता के साथ बहती रहे। मगर मैं उनमें से किसी के झोंके में उड़ नहीं जाऊँगा। मैं चाहूँगा कि साहित्य में रुचि रखने वाले हमारे युवा स्त्री-पुरुष जितना चाहें अंग्रेजी और संसार की दूसरी भाषाएँ सीखें और फिर उनसे यह आशा रखूँगा कि वे अपनी विद्वता का लाभ भारत और संसार को उसी तरह दें जैसे बोस, राय या स्वयं कविवर दे रहे हैं। लेकिन मैं यह नहीं चाहूँगा कि एक भी भारतवासी अपनी मातृभाषा को भूल जाएँ, उसकी उपेक्षा करे, उस पर शर्मिंदा हो या यह अनुभव करे कि वह अपनी खुदकी देशी भाषा में विचार नहीं कर सकता या अपने उत्तम विचार प्रकट नहीं कर सकता। मेरा धर्म कैदखाने का धर्म नहीं है।

यंग इंडिया, १-६-१९२१

वह उन भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के सामंजस्य की प्रतीक है, जिनके हिंदुस्तान में पैर जम गए हैं, जिनका भारतीय जीवन पर प्रभाव पड़ चुका है और जो स्वयं भी भारतीय जीवन से प्रभावित हुई हैं। यह सामंजस्य कुदरती तौर पर स्वदेशी ढंग का होगा, जिसमें प्रत्येक संस्कृति के लिए अपना उचित स्थान सुरक्षित होगा। वह अमरीकी ढंग का सामंजस्य नहीं होगा, जिसमें एक प्रमुख संस्कृति बाकी की संस्कृतियों को हजम कर लेती है और जिसका लक्ष्य मेल की तरफ नहीं है, बल्कि कृत्रिम और जबरदस्ती की एकता की ओर है।

यंग इंडिया, १७-११-१९२०

६. आरोग्य और आरोग्यशास्त्र

रोगों का इलाज

जो चीज़ हमें सब तक पहुँचानी है, सादगी उसकी खास निशानी होनी चाहिए। जिस चीज़ में करोड़ों लोगों के लाभ का हेतु हो, उसमें बहुत पांडित्य की आवश्यकता नहीं होती। पांडित्य तो चंद लोग ही प्राप्त कर सकते हैं और इसलिए उसका लाभ अमीरों को ही मिल सकता है। परंतु भारत वर्ष तो अपने सात लाख गाँवों में रहता है, जो अज्ञात, छोटे-छोटे और दूर-दूर बसे हुए है और जिनकी आबादी कहीं-कहीं तो मुश्किल से दो चार सौ से ज्यादा होती है और अकसर चालीस-पचास भी नहीं होती। यही असली हिंदुस्तान है, यही मेरा भारत है, जिसके लिए मैं जी रहा हूँ। इन ग़रीब लोगों के पास आप बड़े-बड़े डॉक्टरों को और दवा-दारू के सामान को नहीं पहुँचा सकते। उनकी एकमात्र आशा तो सीधे-सादे प्राकृतिक इलाज़ और रामनाम में है।

हरिजन, ७-४-१९४६

मेरी राय में जहाँ व्यक्तिगत, पारिवारिक और सार्वजनिक सफ़ाई के नियमों का पालन किया जाता है और भोजन तथा व्यायाम के मामले में उचित सावधानी रखी जाती है, वहाँ बीमारी या रोग का कोई अवसर नहीं आना चाहिए। जहाँ संपूर्ण, शुद्धता, भीतरी और बाहरी दोनों तरह की शुद्धता होती है, वहाँ बीमारी असंभव हो जाती है।

हरिजन, २६-५-१९४६

और यदि बीमारी को दूर करने के लिए प्रकृति के तमाम नियमों का पालन करते हुए भी बीमारी आ जाती है, तो फिर उसकी रामबाण औषधि रामनाम है। परंतु यह रामनाम-चिकित्सा पलभर में सार्वत्रिक नहीं बन सकती। रोगी को विश्वास दिलाने के लिए चिकित्सक को रामनाम की शक्ति की जिंदा मिसाल बनना पड़ता है। तब तक प्रकृति के पंचतत्त्वों से जो कुछ मिल जाए उसे अवश्य स्वीकार और इस्तेमाल करना चाहिए। वे तत्त्व हैं पृथ्वी, जल, आकाश, अग्नि और वायु। मेरे खयाल से यह निसर्गोपचार की सीमा है। इसलिए उरुलीकांचन में मेरा प्रयोग इतना ही

है कि देहातियों को स्वच्छ और स्वस्थ जीवन बिताना सिखा दिया जाएँ और पंचतत्त्वों के ठीक उपयोग द्वारा बीमारों को अच्छा करने की कोशिश की जाएँ। ज़रूरी हो तो स्थानीय जड़ी-बूटियाँ भी काम में ली जा सकती हैं। अवश्य ही लाभदायक और संतुलित आहार प्राकृतिक चिकित्सा का अनिवार्य अंग है।

हरिजन, ११-८-१९४६

७. शराब और नशीले पदार्थों की बुराई

इन अभागे मनुष्यों को, जो इस व्यसन के गुलाम बन गए हैं, अपने आपसे बचाने की ज़रूरत है। उनमें से कुछ तो ऐसी मदद चाहते भी हैं। आप इस झूठे तर्क के धोखे में न आइए कि भारत को जबरन् निर्व्यसनी नहीं बनाना चाहिए और जो शराब पीना चाहते हैं उन्हें पीने की सुविधाएँ अवश्य मिलनी चाहिए। राज्य अपनी प्रजा के दुर्व्यसनों के लिए इंतजाम नहीं करता। हम वेश्यालयों का नियमन नहीं करते और उनके लिए परवाने नहीं देते। हम चोरों को अपनी चोरी की कुटेव जारी रखने के लिए सहूलियतें मुहैया नहीं करते। मैं शराबखोरी को चोरी और शायद व्यभिचार करने से भी अधिक निंदनीय मानता हूँ। क्या वह अकसर इन दोनों की जननी नहीं होती? मेरा अनुरोध है कि आप शराब की आमदनी का अस्तित्व मिटा देने और शराबखानों को उठा देने के काम में देश का साथ दें।

यंग इंडिया, ८-६-१९२१

शराब और नशीले द्रव्य, जिन्हें उनका व्यसन है और जो उनका रोज़गार करते हैं, दोनों को गिराते हैं। शराबी आदमी पत्नी, माता और बहन का भेद भूल जाता है और ऐसे गुनाह कर डालता है, जिन पर वह अपनी शांत अवस्था में लज्जा अनुभव करता है। जिसका मज़दूरों से कुछ भी संबंध आया है, वह जानता है कि जब वे शराब के पैशाचिक प्रभाव के अधीन होते हैं, तब उनकी क्या दशा होती है। दूसरे वर्गों के व्यक्तियों पर भी उसका प्रभाव ऐसा ही होता है। मैंने एक जहाज के कप्तान को नशे की हालत में बेशुद्ध होते देखा है। जहाज की जिम्मेदारी उसकी इस हालत के कारण प्रधान अधिकारी को सौंप देनी पड़ी थी। बैरिस्टरों को शराब पीने के बाद नालियों में लुढ़कते देखा गया है।

यंग इंडिया, ४-२-१९२६

शराब और नशीले द्रव्य—ये शैतान के दो हाथ हैं, जिनके प्रहारों से वह अपने असहाय गुलामों को बेभान और विमूढ़ बना डालता है।

यंग इंडिया, २२-४-१९२६

मैं मानता हूँ कि भूख से पीड़ित स्त्री-पुरुष जो छोटी-मोटी चोरियाँ करते हैं और जिन के कारण उन पर मुकदमे चलाए जाते हैं और सजाएँ दी जाती हैं, उनके बनिस्बत भारत में मद्यपान ज्यादा बड़ा अपराध है। प्रेम की शक्ति की पूरी उपलब्धि न होने के कारण मैं दण्ड-विधान की प्रथा को उसके संयत रूप में—अनिच्छापूर्वक और लाचारी से—स्वीकार करता हूँ। और जब तक मैं उसे स्वीकार करता हूँ तब तक मैं इस बात की हिमायत करना अपना कर्तव्य मानता हूँ कि जो लोग इस विनाशक पेय का निर्माण करते हैं और जो बार-बार चेतावनी देने पर भी उसका व्यसन छोड़ते नहीं है, उन्हें बिना लंबी-चौड़ी कार्रवाई किए तड़ातड़ सजाएँ दी जाएँ। मैं अपने बच्चों को आग में या गहरे पानी में जाने से जबरन् रोकने में कोई संकोच नहीं करता। शराबरूपी लाल पानी में जा पड़ना धधकती भट्टी या बाढ़ में पड़ने से भी ज्यादा खतरनाक है। भट्टी या बाढ़ तो केवल शरीर का ही नाश करती है, लेकिन शराब शरीर और आत्मा दोनों का नाश कर डालती है।

यंग इंडिया, ८-८-१९२९

अगर मुझे घंटेभर के लिए भारत का सर्वाधिकारी बना दिया जाएँ, तो मैं सबसे पहले तमाम शराबखाने मुआवज़ा दिए बिना बंद करा दूँगा और कारखानों के मालिकों को मज़बूर करूँगा कि वे अपने मज़दूरों के लिए मानवोचित स्थितियाँ पैदा करें और जलपान तथा मनोरंजनघर खोलें, जहाँ इन मज़दूरों को निर्दोष पेय और उतने ही निर्दोष मनोरंजन प्राप्त हो सकें।

यंग इंडिया, २५-६-१९३१

खानगी कोशिशों की ज़रूरत

मद्यपान-निषेध का काम मुख्यतः हमीं को करना होगा। सरकार इस मामलें में अधिक से अधिक यह कर सकती है कि ताड़ी के परवाने देना बंद कर दे, परंतु वह शराबी से उसका दुर्व्यसन शायद ही छुड़वा सकती है। काम का यह हिस्सा तो खानगी कोशिशों से ही पूरा करना होगा।

यंग इंडिया, १३-९-१९२८

अगर हमें अहिंसक प्रयत्न से अपने लक्ष्य तक पहुँचना है, तो जो लाखों स्त्री-पुरुष नशीली चीजों के अभिशाप के शिकार बने हुए हैं, उनके भाग्य को हम भावी सरकार के भरोसे नहीं छोड़ सकते।

इस बुराई को मिटाने में डॉक्टर लोग बहुत कारगर हाथ बँटा सकते हैं। उन्हें मंदिर और अफीम के व्यसनियों को इस अभिशाप से मुक्त करने के तरीके ढूँढ़ निकालने होंगे।

इस सुधार को आगे बढ़ाने के काम में स्त्रियों और विद्यार्थियों के लिए विशेष अवसर है। प्रेमपूर्ण सेवा के अनेक कार्यों से वे व्यसनियों पर ऐसा काबू पा सकते हैं, जिससे इस बुरी आदत को छोड़ देने की उनकी पुकार सुनने को वे मज़बूर हो जाएँ।

काँग्रेस कमेटियाँ विश्राम-घर खोल सकती हैं, जहाँ थके हुए मज़दूर आराम कर सकते हैं, उन्हें स्वास्थ्यप्रद और सस्ता जलपान तथा उपर्युक्त खेल खेलने को मिल सकते हैं। ये सब काम मनोहर और ऊँचा उठाने वाले हैं। स्वराज्य का अहिंसक तरीका नया ही तरीका है। इसमें पुराने मूल्यों का स्थान नए मूल्य ले लेतें हैं। हिंसक मार्ग में ऐसे सुधारों के लिए स्थान नहीं हो सकता। उस मार्ग में विश्वास रखने वाले अधीरता में और मैं तो यह भी कहूँगा कि अज्ञान में इन चीजों को कयामत के लिए मुलतवी कर देते हैं। वे भूल जाते हैं कि स्थायी और लाभदायक मुक्ति भीतर से अर्थात् आत्मशुद्धि से होती है। रचनात्मक कार्यकर्ता कानून द्वारा मदिरा-निषेध का मार्ग तैयार नहीं करते, तो भी वे उसे आसान और सफल ज़रूर बनाते हैं।

रचनात्मक कार्यक्रम, १९४१; पृ॰ १०-११

जुआ

गुजरात के गाँवों में जुए से जो सत्यानाश हो रहा है, उसकी दुःखद कथाएँ सरदार और उनके स्वयंसेवकों ने मुझे सुनाई हैं। यह बीमारी आँधी वाली रात के दावानल की तरह फैल रही है। हरएक को मेहनत किए बिना धनवान बनने की जल्दी मची हुई है। जुआरी यह तर्क करता है कि किसी न किसी ने तो आज के बाज़ार-भावों का ठीक अनुमान लगाया ही होगा; तब मैं स्वयं

क्यों न लगाऊँ? और फिर वह अपने विनाश की ओर दौड़ता है। जहाँ किसी समय गुजरात के घरों में सुख का साम्राज्य था, वहाँ अब उनकी शांति नष्ट हो रही है।

इसमें शक नहीं कि नाम कुछ भी दीजिए, यह जुआ अनादि-काल से चला आ रहा है; रूप और नाम भले ही बदले हों, चीज़ बिलकुल नहीं बदली है।

कानून तो इस जुए के विरुद्ध होना ही चाहिए। परंतु यदि उसे लोकमत का समर्थन प्राप्त नहीं है तो उससे कुछ नहीं होगा। इसलिए कार्यकर्ताओं के लिए वैसे ही सचेष्ट होने की आवश्यकता है, जैसे वे प्लेग के दिनों में हुए थे या भूकंप के कष्ट-निवारण के समय रहे हैं। उन्हें तब तक चैन नहीं लेना चाहिए, जब तक इस बुराई का उन्मूलन न हो जाए। एक तरह से यह प्लेग या भूचाल से भी बुरी है, क्योंकि यह आत्मा का नाश करती है। आत्माहीन व्यक्ति पृथ्वी पर भारस्वरूप होता है। निःसंदेह जुए के विरुद्ध लड़ाई इतनी सीधी-सादी चीज़ नहीं, जितनी प्लेग या भूकंप से कष्ट-निवारण की लड़ाई है। इन लड़ाईयों में पीड़ितों की तरफ से थोड़ा या बहुत सहयोग मिलता है। जुए के मामले में तो उसके शिकार स्वयं कष्ट मोल लेते हैं और उनसे चिपटे रहना चाहते हैं। जुआरी से उसकी बदी छुड़ाना वैसा ही है, जैसा शराबी से शराब की लत छुड़ाना। इसलिए जुए के विरुद्ध लड़ना बहुत कठिन काम है। परंतु उसे करना ही होगा।

हरिजन, १६-६-१९३५

घुड़दौड़ के बारे में मैं कुछ नहीं जानता। इसके साथ जो चीजें लगी हुई हैं उनके कारण मैंने इसे बहुत खतरनाक माना है। मुझे मालूम है कि अनेक लोग घुड़दौड़ के मैदान में बर्बाद हो गए हैं।

यंग इंडिया, २७-४-१९२१

जहाँ तक मैं जानता हूँ, घुड़दौड़ का जुआ अन्य बहुत सी चीजों की तरह पश्चिम से आई हुई वस्तु है, और मेरा बस चले तो घुड़दौड़ के जुए को कानून का जितना संरक्षण प्राप्त है उसे भी मैं वापस ले लूँ। मैंने यह दलील सुनी है कि घोड़ों की अच्छी नस्ल पैदा करने के लिए घुड़दौड़

ज़रूरी है। इसमें सचाई हो सकती है। क्या जुए के बिना घुड़दौड़ नहीं हो सकती? या जुए से भी घोड़ों की अच्छी नस्ल पैदा करने में सहायता मिलती है?

हरिजन, ४-९-१९३७

८. स्त्रियाँ

स्त्री को रिवाज़ और कानून के अनुसार, जिनका निर्माण पुरुषने किया है और जिनके बनाने में स्त्री का कोई हाथ नहीं रहा, दबाकर रखा गया है। अहिंसा के आधार वाली जीवन-योजना में स्त्री को अपने भाग्य-निर्माण का उतना ही अधिकार है जितना पुरुष को है। परंतु चूँकि अहिंसक समाज में प्रत्येक अधिकार कर्तव्य-पालन से उत्पन्न होता है, इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक आचरण के नियम आपस के सहयोग और सलाह से ही बनाए जाने चाहिए। वे बाहर से हरगिज नहीं थोपे जा सकते। पुरुषों ने स्त्रियों के प्रति अपने व्यवहार में इस सचाई को पूरी तरह महसूस नहीं किया है। उन्होंने अपने को स्त्रियों के मित्र और साथी न मानकर उनके प्रभु और स्वामी समझा है। काँग्रेसननों का यह विशेषाधिकार है कि वे भारत की महिलाओं को हाथ पकड़कर ऊँचा उठाएँ। स्त्रियों की किसी हद तक उन प्राचीन गुलामों की-सी हालत है, जो यह नहीं जानते थे कि वे कभी आज़ाद हो सकते हैं या उन्हें आज़ाद होना है; और जब आज़ादी आ गई तब क्षण भर के लिए उन्हें लाचारी महसूस हुई। स्त्रियों को सिखाया गया है कि वे अपने को पुरुषों की दासी समझें। यह काँग्रेसजनों का काम है कि वे स्त्रियों को अपना पूरा दर्जा प्राप्त कराएँ और उन्हें पुरुष की बराबरी का हिस्सा अदा करने योग्य बना दें।

अगर निश्चय कर लिया जाएँ तो यह क्रांति आसान है। काँग्रेसजन अपने ही घरों से कार्यारंभ कर दें। पत्नियों को गुड़िया और भोग की वस्तु न समझकर उनके प्रति सेवाकार्य के सम्मान्य साथी का बरताव करना चाहिए। इसके लिए जिन स्त्रियों को सांस्कृतिक शिक्षा प्राप्त नहीं हुई है, उन्हें अपने पतियों से यथासंभव यह शिक्षा मिलनी चाहिए। आवश्यक परिवर्तनों के साथ यही बात माताओं और पुत्रियों के लिए भी लागू होती है।

यह बताना शायद ही ज़रूरी है कि मैंने भारत की स्त्रियों की असहाय अवस्था का इकतरफा चित्र खींचा है। मुझे यह बात अच्छी तरह मालूम है कि देहातों में आम तौर पर वे अपने मर्दों की बराबरी का दर्जा रखती हैं और कुछ मामलों में उन पर शासन भी करती हैं। परंतु निष्पक्ष

बाहरी आदमियों की नज़र में कानून और रिवाज़ के अनुसार स्त्रियों का दर्जा सर्वत्र काफ़ी खराब है और उसमें मौलिक परिवर्तन की ज़रूरत है।

रचनात्मक कार्यक्रम, १९४१; पृ॰ १७-१८

९ सांप्रदायिक एकता

इस एकता की आवश्यकता के बारे में सब सहमत हैं। परंतु सबको यह मालूम नहीं है कि एकता का अर्थ राजनीतिक एकता नहीं है, जो ऊपर से थोषी जा सकती है। उसका अर्थ है न टूटने वाली हार्दिक एकता। ऐसी एकता पैदा करने के लिए पहली ज़रूरी चीज हर काँग्रेसजन के लिए यह है कि उसका धर्म कुछ भी हो, उसको अपने खुद के व्यवहार में हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी और यहूदी वगैरा का अर्थात् प्रत्येक हिंदू और अहिंदू का प्रतिनिधि बन जाना चाहिए। उसे हिंदुस्तान के करोड़ों निवासियों में से प्रत्येक के साथ एकता महसूस करनी चाहिए। ऐसा अनुभव करने के लिए प्रत्येक काँग्रेसजन अपने धर्म के सिवा दूसरे धर्म वालों के साथ व्यक्तिगत मित्रता पैदा करेगा। उसके दिल में दूसरे धर्मों का वैसा ही आदर होना चाहिए, जैसा उसका अपने धर्म के लिए है।

रचनात्मक कार्यक्रम, १९४१; पृ॰ ८

१०. अस्पृश्यता-निवारण

अस्पृश्यता न सिर्फ हिंदू धर्म का अविभाज्य अंग नहीं है, बल्कि एक ऐसा अभिशाप है जिस के साथ युद्ध करना प्रत्येक हिंदू का पवित्र कर्तव्य है। इसलिए ऐसे सब हिंदूओं को, जो इसे पाप समझते हैं, इसके लिए प्रायश्चित करना चाहिए। इसके लिए उन्हें अछूतों के साथ भाईचारा रखना चाहिए, प्रेम और सेवा की भावना से उनके साथ संबंध स्थापित करना चाहिए, ऐसे कार्यों से अपने को पवित्र हुआ मानना चाहिए, उनके कष्ट दूर करने चाहिए, उन्हें युगों की दासता से उत्पन्न हुई जहालत और दूसरी बुराइयों पर विजय प्राप्त करने में धीरजपूर्वक मदद देनी चाहिए और दूसरे हिंदूओं को वैसा ही करने की प्रेरणा देनी चाहिए।

मंगल-प्रभात, १९४५; पृ॰ ३२

अब हिंदू धर्म के इस कलंक और अभिशाप को मिटाने की आवश्यकता पर विवेचन करना गैर-ज़रूरी है। काँग्रेसजनों ने इस मामले में बेशक बहुत-कुछ किया है। परंतु मुझे यह कहते दुःख होता है कि बहुत से काँग्रेसजनों ने इसे केवल राजनीतिक आवश्यकता ही समझा है और जहाँ तक हिंदुओं का संबंध है उन्होंने इसे हिन्दू धर्म के अस्तित्व के लिए कोई अनिवार्य चीज नहीं माना। अगर हिंदू काँग्रेसजन इस कार्य को शुद्ध भाव से हाथ में ले लें, तो अब तक उन्होंने कथित सनातनियों पर जितना प्रभाव डाला है उससे कहीं व्यापक प्रभाव आइंदा उनका पड़ेगा। उन्हें सनातनियों के पास किसी युद्धवृत्ति से नहीं जाना चाहिए, परंतु अपनी अहिंसा को शोभा देने वाले मित्रभाव से पहुँचना चाहिए। और जहाँ तक हरिजनों का ताल्लुक है, हर हिन्दू को उनके काम को अपना ही काम समझ लेना चाहिए और उनके भयंकर बहिष्कार में उनके मित्र बन जाना चाहिए—ऐसा बहिष्कार जिसे दुनिया ने भारत में जिस राक्षसी रूप में देखा है उस रूप में कभी कहीं नहीं देखा। मुझे अनुभव से मालूम है कि यह काम कितना मुश्किल है। परंतु यह तो स्वराज्य भवन के निर्माण-कार्य का ही एक अंग है।

रचनात्मक कार्यक्रम, १९४१; पृ॰ ९-१०

११. आर्थिक समानता

यह आखिरी चीज अहिंसात्मक स्वाधीनता की कुँजी है। आर्थिक समानता के लिए काम करने का अर्थ पूँजी और श्रम के शाश्वत संघर्ष को मिटा देना है। इसका अर्थ यह है कि एक तरफ़ जिन मुट्ठीभर धनवानों के हाथों में राष्ट्र की अधिकांश संपत्ति इकट्ठी हो गई है उनका स्तर घटाया जाएँ और दूसरी ओर करोड़ों भूखे-नंगे लोगों का स्तर बढ़ाया जाएँ। जब तब धनवानों और करोड़ों भूखे लोगों के बीच की चौड़ी खाई बनी हुई है, तब तक स्पष्ट है कि कोई अहिंसक शासन-प्रणाली कायम नहीं हो सकती।

मेरे संरक्षकता के सिद्धांत की खूब खिल्ली उड़ाई गई है, फिर भी मैं उस पर कायम हूँ। यह सच है कि उसे सिद्ध करना कठिन है। अहिंसा की भी यही बात है।

यह अहिंसात्मक प्रयोग अभी चल ही रहा है। प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में अभी तक हमारे पास दिखाने को कोई खास चीज नहीं है। परंतु यह निश्चित है कि धीरे-धीरे ही सही, फिर भी यह तरीका समता की दिशा में काम करने लगा है। और चूँकि अहिंसा विचार-परिवर्तन करने की एक प्रक्रिया है, इसलिए अगर यह परिवर्तन हो गया तो वह स्थायी होगा।

वह (अहिंसात्मक स्वराज्य) किसी दिन अकस्मात स्वर्ग से टपक नहीं पड़ेगा। परंतु उसका निर्माण हम सबको सम्मिलित प्रयत्न से एक-एक ईंट रखकर करना पड़ेगा। हम इस दिशा में काफ़ी आगे बढ़ चुके हैं। परंतु अभी बहुत लंबा और थका देने वाला फासला तय करना बाकी हैं। तब कहीं हमें स्वराज्य (सर्वोदय) के गौरवमय और भव्य दर्शन होंगे।

रचनात्मक कार्यक्रम, १९४१; पृ॰ २१-२२

हमें विचार करना चाहिए कि अहिंसा के द्वारा समान वितरण कैसे संपादन किया जा सकता है। उसकी दिशा में पहला कदम यह है कि जिस व्यक्ति ने इस आदर्श को अपने जीवन का अंग बना लिया है, वह अपनी निजी ज़िंदगी में उसके अनुसार ज़रूरी परिवर्तन करेगा। वह भारत की दरिद्रता को ध्यान में रखकर अपनी ज़रूरतें कम से कम कर लेगा। उसकी कमाई में कहीं

बेईमानी न होगी। वह सट्टे की इच्छा छोड़ देगा। उसके रहने का स्थान उसकी नवीन जीवन-प्रणाली के अनुरूप होगा। जीवन के हर क्षेत्र में वह आत्म-संयम रखेगा। जब वह अपने खुद के जीवन में जो कुछ संभव है वह सब कर लेगा, तभी इस आदर्श का अपने साथियों और पड़ोसियों में उपदेश करने की उसकी स्थिति होगी।

हरिजन, २५-८-१९४०

अहिंसा का साधन

मैं अहिंसा के द्वारा, घृणा के विरुद्ध प्रेम की शक्ति का उपयोग करके लोंगो को अपने विचार का बनाकर, आर्थिक समता संपादन करूँगा। मैं तब तक ठहरा नहीं रहूँगा जब तक सारे समाज को बदल कर अपने खयाल का न बना लूँ। मैं तो सीधे अपने जीवन से इसकी शुरुआत कर दूँगा। कहना न होगा कि अगर मैं पचास मोटर गाड़ियों अथवा दस बीघा ज़मीन का भी मालिक हूँ, तो मैं अपनी कल्पना की आर्थिक समानता सिद्ध करने की आशा नहीं रख सकता। इसके लिए मुझे गरीब से गरीब आदमी के स्तर पर आ जाना पड़ेगा। पिछले पचास या उससे ज्यादा वर्षों से मैं यही करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

हरिजन, ३१-३-१९४६

अशुद्ध साधनों से साध्य भी अशुद्ध हो जाता है। इसलिए राजा का सिर काट लेने से राव और रंक बराबर नहीं हो जाएँगे। मालिक और मज़दूर भी सिर काटने की इस प्रक्रिया से बराबर नहीं हो जाएँगे। असत्य से हम सत्य को प्राप्त नहीं कर सकते।

इसलिए केवल सत्यपरायण, अहिंसक और शुद्ध-हृदय समाजवादी ही भारत और संसार में समाजवादी समाज कायम कर सकेंगे।

हरिजन, १३-७-१९४७

उपसंहारः हम आगे बढ़े

अभी तक हम पानी जैसे रोजमर्रा के काम की एक चीज के असंख्य गुणों का भी पूरा पता नहीं लगा सके हैं। उसके कुछ गुणों से हम आश्चर्यचकित हो जाते हैं। इसलिए हमें अहिंसा जैसी

अत्यंत सूक्ष्म प्रकार की शक्ति को तुच्छ नहीं मानना चाहिए। हमें उसकी गुप्त शक्ति का धीरज और श्रद्धा से पता लगाने की कोशिश करनी चाहिए। थोड़े से समय में हमने इस शक्ति के उपयोग का एक बड़ा प्रयोग काफ़ी सफलता के साथ कर लिया है। आप जानते हैं कि मैंने इसे बहुत महत्त्व नहीं दिया है। बल्कि मैंने तो इसे अहिंसा का प्रयोग कहने में भी संकोच किया है। परंतु जैसे पुराणों की कथा के अनुसार राम के नाम से पत्थर भी तैरते थे, वैसे ही अहिंसा के नाम से किए गए आंदोलन से देश में बड़ी जाग्रति आई है और हमारी प्रगति हुई है। जब लोग अटल श्रद्धा से इस प्रयोग को आगे बढ़ाएँगे, तब कौन कह सकता है कि इसके क्या परिणाम होंगे?

हरिजन, २८-७-१९४०

सर्वोदय

.

दूसरा भाग

विनोबा भावे और अन्य लोग

आठवाँ विभाग: नई क्रांति

१. नई क्रांति

लोग क्रांतिकारी कार्यक्रम चाहते है और समझते हैं कि क्रांति रक्तपात के बिना नहीं हो सकती। मैं आपको बता दूँ कि मुझे यह विचार स्वीकार नहीं है। जो यह समझते हैं कि खून बहाए बिना क्रांति नहीं हो सकती, वे सचमुच क्रांतिकारी हैं ही नहीं। वे जैसे-थे-वादी हैं। उनके सामने ध्येय क्रांति का नहीं, परंतु वर्तमान सुखी और दु:खी लोगों के स्थानों की अदला-बदली करने का है। क्या यह क्रांति है? इसमें इसके सिवा क्या परिवर्तन हुआ कि जो सुखी हैं वे दु:खी हो गए और जो दु:खी हैं वे सुखी बन गए? क्या उन्होंने दु:ख को सर्वथा मिटा दिया? इसीलिए मैं इसे जैसे-थे-वाद कहता हूँ। क्रांति का अर्थ तो यह है कि निरपवाद रूप में सर्वत्र सुख ही सुख हो। सर्वोदयवादी अर्थात् सबके सुख के लिए कोशिश करने वाला होने के कारण मैं क्रांतिकारी होने का दावा करता हूँ। जो समाज को दो वर्गों में बाँट देना चाहते हैं, वे अपने को साम्यवादी या और कुछ-वादी कह सकते हैं, परंतु मेरी नम्र सम्मति में वे सब संप्रदायवादी हैं। जहाँ पाश्चात्य मस्तिष्क को अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक भलाई की दृष्टि से सोचने की तालीम दी जाती है, वहाँ भारतीय मानस को बचपन से ही सबके भले का, विश्वमैत्री का, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का विचार करने की शिक्षा मिलती है। उसे सबसे प्रेम करने की तालीम दी जाती है, भले वह थोड़े से ही लोगों की सेवा कर पाये। एक समय था जब मुट्ठीभर लोग बहुसंक्यक जनता की मेहनत के बल पर सुख भोगते थे। आज बहुसंख्यक लोग अल्पसंख्यक लोगों को हानि पहुँचाकर सुखी होना चाहते हैं। परंतु भारत में इसके बिलकुल विपरीत हमें यह सिखाया जाता है कि हम दूसरों के साथ वैसा ही बरताव करें जैसा हम अपने साथ चाहते हैं। गीता की भाषा में इसे 'आत्मौपम्य' कहा जाता है। मैं सारे समाज का कायापलट इसी आधार पर करना चाहता हूँ और इन्हीं कारणों से मेरा तरीका क्रांतिकारी है। कया मधुमक्खी फूलों को कुछ भी नुकसान पहुँचाए बिना शहद इकट्ठा नहीं कर लेती है? मैं भी दूसरों को बहुत कष्ट पहुँचाए बिना लक्ष्यसिद्धि चाहता हूँ। यह तभी हो सकता है जब हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत के प्रति हमारी श्रद्धा हो। इसलिए मैं कोई नई चीज नहीं कर रहा

हूँ, परंतु जो कुछ ऋषियों ने हमें सिखाया है उसी पर अमल कर रहा हूँ। मुझे जरा भी संदेह नहीं कि अगर अहिंसात्मक क्रांति भारत में नहीं हुई, तो वह और कहीं नहीं हो सकती।

हरिजन, १५-१२-१९५१

बहुमत का शासन आज का नियम-सा बन गया है। इसकी कोई परवाह नहीं करता कि बहुमत विवेकशील और चरित्रवान है या नहीं। क्या बहुमत का राज्य केवल पशुबल नहीं है? आप सेना के शासन या रुपये के शासन में और बहुमत के शासन में कैसे भेद कर सकते हैं? वह पशुबल नहीं तो और क्या है?

हरिजन, १७-१-१९५३

विनोबा ने कहा, हम लोगों को परमेश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि हे भगवान, मेरी इच्छा मुझ पर ही चले। उस इच्छा का बोझ दुनिया में और किसी पर लादा न जाए। मेरी इच्छा जिसे पसंद आए वह उसके मुताबिक चले। वह उसकी मर्जी की बात है; और उससे हमें संतोष होना चाहिए। लेकिन किसी भी कारण से—भले वह कारण नैतिक ही क्यों न हो—हमारी इच्छा दूसरे किसी के सिर पर लादी न जाए; बिना समझे उसका अमल दुनिया में कहीं न हो। जब वह प्रार्थना हमको नहीं सूझती और हमको लगता है कि जल्दी से जल्दी, चाहे लोग समझें या न समझें, फलानी चीज हो ही जानी चाहिए, तब समझ लेना चाहिए कि हमारे विचार में हिंसा भरी है और साम्राज्यवाद भरा है। महायुद्ध के बीज उसमे बोए हुए हैं, ऐसा समझना चाहिए।

जब कभी लोग जनता को शिक्षण देने में हार जाते हैं, तो वे कहते हैं कि शिक्षण देते-देते कितना समय लग जाएगा? इससे बेहतर तो यह है कि एक व्यवस्था बनाओ और उसे लोगों पर कायम करो। इससे लोग उसके अनुसार चलने लग जाएगे, तो दूसरा शिक्षण देने का काम हम आहिस्ता-आहिस्ता कर लेंगे। तो शिक्षण देने में हम हार खाते हैं और उसके बदले शस्त्रास्त्र बनाने में उत्साह रखते हैं।

व्यवस्था से काम हो जाता है, ऐसा आभास तो होता है। लेकिन क्योंकि वह व्यवस्था लोगों को शिक्षण देकर नहीं बनाई गई थी, इसलिए उस व्यवस्था से लोगों में असंतोष पैदा होता है और लोग कहने लगते हैं कि नई व्यवस्था पैदा होनी चाहिए। यह नई व्यवस्था की माँग नित्य हुआ करती है। इसलिए थोड़े दिनों में जैसे व्यवस्था हो जाती है वैसे ही थोड़े दिनों में अव्यवस्था का आरंभ हो जाता है और नई व्यवस्था की आवश्यकता मालूम होती है।

इसलिए बेहतर है कि ऐसे मोह में हम न रहें और केवल व्यवस्था करके कोई चीज हमें हासिल होगी और हम शांत हो जाएगे और बाद में शिक्षण देते रहेंगे ऐसी आशा हम न करें। बल्कि शिक्षण देने की हिम्मत रखें। और जब तक लोगों को शिक्षण मिलता है तब तक धीरज रखें। तो हमारा काम जल्द से जल्द हो जाएगा। चाहे दिखने में ऐसा लगे कि इसमें ५० साल लग गए, लेकिन यही कम से कम समय होगा जो ऐसी समस्याओं को सुलझाने में लग सकता है। मतलब इसका यह है कि किसी भी मनुष्य को कोई चीज बिना समझे-बूझे नहीं करनी है। और केवल हमारी मुरव्वत के कारण या हमारे आदर के लिए या हमारी आज्ञा के वश होकर या किसी दंड के भय के कारण या ऐसे ही किसी दबाव के कारण लोग अच्छी बात भी क्यों न करें, उससे हमें खुशी नहीं होनी चाहिए। अच्छी बात भी समझ-बूझकर ही की जाए। और जैसे गीता के अंत में भगवान ने अर्जुन से कह दिया कि 'यथेच्छसि तथा कुरु'—तू सोच ले और सारा सोचकर जैसा तुझे लगे वैसा आचरण कर, वैसा ही हमारा विश्वास होना चाहिए। किसी तरह के दबाव में हमारा जरा भी विश्वास नहीं होना चाहिए। तब हम वह राज्य ला सकेंगे, जो अहिंसा का राज्य होगा और जिसके आने के बाद स्थायी शांति की आशा हम कर सकते हैं।

हरिजनसेवक, १४-७-१९५१ **विनोबा**

नवाँ विभाग: आर्थिक समानता

१. आर्थिक समानता

भंगी, माता, अध्यापक और इसी प्रकार के अनेक दूसरे लोगों की सेवाओं का मूल्य पैसे में हो ही नहीं सकता। इसलिए नियम यह होना चाहिए: जो मनुष्य समाज की निष्ठापूर्वक सेवा करता है, वह अपनी रोजी का हकदार हो जाता है। इसी तरह अगर राष्ट्रपति, बुद्धि से ही सही, देश की उतने ही उत्साह से सेवा करता है, तो उसे उसके गुज़र के लायक मज़दूरी मिलनी ही चाहिए। राष्ट्रपति के वेतन का भी आधार वही होना चाहिए, जो किसान या मेहतर का है। मैंने समाज की अध्यापक, न्यायाधीश, किसान, लेखक, संपादक वगैरा कई हैसियत से सेवा की है। मगर मुझे यह कभी महसूस नहीं हुआ कि एक तरह का काम दूसरी तरह के काम से कुछ ऊँचा है। मैंने उन सबसे एक-सा मानसिक संतोष और आनंद अनुभव किया है। लेकिन यह सच है कि मुझे सब कामों में एकसे शरीर-श्रम का अनुभव नहीं हुआ। परंतु इससे मानसिक संतोष की मात्रा में कोई फर्क नहीं पड़ता। जब मुझे कोई मेरी ज़रूरत से ज्यादा देता है तो मैं घबरा जाता हूँ। मैं उसे स्वीकार नहीं कर सकता। मुझे जितने दहीं की ज़रूरत है उससे अधिक क्यों लेना चाहिए? और मुझे यह समझ में नहीं आता कि कोई देता है, सिर्फ इसीलिए मैं उसे क्यों ले लूँ? सच्चा सिद्धांत यह है: सबको अपनी रोज की रोटी मिल जानी चाहिए, कलके लिए भी नहीं मिलनी चाहिए। और प्रत्येक काम का आर्थिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य समान होना चाहिए। साम्ययोग इसी तरह कायम किया जा सकता है।

मैं यह नहीं कहता कि खेती के लायक कुल ज़मीन का सबको बराबर हिस्सा मिलना चाहिए। मुझे गणित की समानता नहीं चाहिए, मैं तो न्याय चाहता हूँ या हाथ की पाँच उँगलियों जैसी समानता चाहता हूँ। ये पाँचों उँगलियाँ आकार में बराबर नहीं हैं, मगर वे सब पूरे सहयोग के साथ काम करती हैं और मिलकर असंख्य कार्य संपादन करती हैं। साथ ही उनकी असमानता इतनी बेहिसाब भी नहीं कि एक तो एक इँच लम्बी हो और दूसरी एक फुट लम्बी हो। इससे शिक्षा यह मिलती है कि अगर पूरी समानता नहीं हो सकती, तो भयंकर असमानता भी नहीं होनी चाहिए,

परंतु तुल्यता होनी चाहिए। पाँचों उँगलियों की अलग-अलग क्षमता है। इसी तरह प्रत्येक मनुष्य में क्षमता अलग-अलग होती है। हरएक आदमी की इन जन्मजात शक्तियों का विकास होना चाहिए। इसे ही पंचायत धर्म कहते हैं।

विनोबा

(उत्तर प्रदेशीय सर्वोदय सम्मेलन में ता॰ १-११-१९५१ को दिए गए भाषण से)

हरिजन, २६-१-१९५२

२. न्यायपूर्ण मज़दूरी

पूँजीवादी अर्थशास्त्र में श्रम को क्रय-विक्रय की वस्तु माना गया है। इसलिए मज़दूरी इस मानवीय वस्तु की कीमत के रूप में सामने आती है। उसमें मानवता के मूलभूत विचारों से कोई संबंध नहीं होता। एक उद्योगपति जिस भावना से फौलाद की मशीनें खरीदता है, उसी भावना से मानव-श्रम को खरीदता है। इसलिए वह कुदरती तौर पर कीमतों को घटाकर सौदे से अधिक से अधिक लाभ उठाने पर तुला रहता है। शोषण की यही प्रणाली है और जब मानव-श्रम एक जड़ वस्तु समझा जाएगा, तब तक वह प्रणाली बदली नहीं जा सकती।

जहाँ हम मनुष्य को मनुष्य समझकर चलना चाहते हैं, वहाँ विचार का आधार सामाजिक मूल्यों पर होना चाहिए। मानव-श्रम की जो कीमत हम चुकाना चाहते हैं, उसका हिसाब इस आधार पर नहीं लगाना चाहिए कि कोई पदार्थ उत्पन्न किया जाएगा तो बाजार में उसके क्या दाम आएँगे। उसका आधार यह होना चाहिए कि उत्पादन-कर्ता के गुज़र के लिए कितने द्रव्य की ज़रूरत होगी। अगर ताड़ का रस निकालने वाले मज़दूर को और सब मनुष्यों की तरह संतुलित आहार की ज़रुरत है और उसे हवा-पानी आदि से बचाने वाले ऐसे घर की भी आवश्यकता है, जिसमें वह सफ़ाई और तंदुरुस्ती की परिस्थितियों में रह सके और जिसमें इतनी सुख-सुविधाएँ हों कि वह अपने बच्चों का एक योग्य नागरिक की भाँती लालन-पालन कर सके, तो उस आदमी के परिवार के लिए ऐसा ही जीवन-स्तर तय करना चाहिए। और यह स्तर उसके श्रम का न्यूनतम मूल्य होना चाहिए। मान लीजिए उसकी ज़रूरतें आजकल की १५० रुपये मासिक आयके बराबर हैं, तो हमें यह हिसाब लगाना चाहिए कि ताड़-उद्योग का कुशल और ईमानदार मज़दूर अपने परिश्रम से महीने भर में बिक्री के लायक कितने पदार्थ पैदा करेगा और उसकी आमदनी को उन पदार्थों की बाज़ार की कीमत पर फैला देना चाहिए। यह भी कल्पना की जा सकती है कि ऐसा करके हम गुड़ का भाव बढ़ाकर १॥ रुपया सेर कर देंगे। मगर हमारा उद्देश्य सामाजिक न्याय सिद्ध करना हो, तो हमें ऊँचे भावों से डरना नहीं चाहिए। सच बात यह है कि जब सरकार भाव नियत करेगी और पदार्थों की बिक्री का काम हाथ में ले लेगी, तो बहुत से मध्यवर्ती लोग और बीच

के कमिशन मिट जाएगे। एक बार इस ढंग से भाव मुकर्रर हो जाए तो सरकार को चाहिए कि पूँजीपतियों और उद्योगपतियों की तरफ़ से और बाहर से आने वाले माल के कारण से होने वाली विविध स्पर्धा को बंद कर दे। वास्तव में इसी तरह हम अपने यहाँ के उत्पादकों का जीवन-स्तर कभी ऊँचा करने की आशा रख सकते हैं।

इसे अव्यावहारिक सुझाव समझकर कर देने की ज़रुरत नहीं। रुसी सामाजिक न्याय की प्रेरणा के असर में रहने वाला लगभग एक-तिहाई संसार इन्हीं विचारों के अनुसार भाव-नियंत्रण करके अपने जीवन-स्तर का नियमन कर रहा है।

जे॰ सी॰ कुमारप्पा

ग्रामोद्योग पत्रिका, जुलाई १९५३; पृ॰ ४१

३. विवेकपूर्ण समानता

समानता का यह मतलब नहीं कि हरएक के पास पाँच एकड़ भूमि होनी चाहिए और एक ही तरह के मकान और उतने ही गज कपड़ा होना चाहिए। हम यही चाहते हैं कि हवा, पानी और ज़मीन जैसी चीजें जो जीवन के लिए आवश्यक हैं, सबको समान रूप में उपलब्ध होनी चाहिए। जब ये चीजें सबको पर्याप्त मात्रा में मिल जाती हैं, तो बाकी बची हुई को कोई ज्यादा ले लेगा तो भी दूसरों को ईर्ष्या नहीं होगी।

हम विवेकयुक्त समानता चाहते हैं। माँ अपने बच्चों को गणित का हिसाब लगाकर बराबर खाना नहीं बाँटती। सबसे छोटे को वह केवल दूध देती है, उससे बड़े को थोड़ा सा दूध और थोड़ी सी रोटी और बड़े बच्चों को सिर्फ रोटी देती हैं। इसी प्रकार समाज में भी भोजन-सामग्री का वितरण करने में हम विवेक से काम लेंगे और हरएक की भूख की तीव्रता और पाचन-शक्ति का खयाल रखेंगे। जहाँ बलात् समता सिद्ध की जाती है, वहाँ तो सबको मज़बूरन् एक ही साँचे में ढाला जाता है। हम इस प्रकार सबको एक ही साँचे में ढालना बिलकुल पसंद नहीं करते। हम विवेक के आधार पर आध्यात्मिक समानता का लक्ष्य रखते हैं।

हरिजन, २०-१२-१९५२ **विनोबा**

४. समानता और दया

कुछ लोग झट से कह देते हैं कि जिस दयाभाव की पुराने कवियों, धर्मों और प्राचीन गुरुओं ने प्रशंसा की हैं, उसमें हमारी दिलचस्पी नहीं है। हम समानता चाहते हैं, दया नहीं; क्योंकि दया से अहंकार उत्पन्न होता है। परंतु मैं चेतावनी देता हूँ कि यदि आप दया का निषेध करके समानता स्थापित करना चाहते हों, तो आप एक महान आध्यात्मिक बल से वंचित रहेंगे और अनावश्यक वैरभाव उत्पन्न करेंगे। आपको समझ लेना चाहिए कि विरोध समानता और असमानता में है, न कि समानता और दया में। इसलिए समानता का प्रयत्न इस ढंग से होना चाहिए कि उसके लिए उन सब लोगों की नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति का लाभ मिल जाए, जिन में दयाभाव का विकास हुआ है। हमें दया के विरोध में खड़े होने की ज़रूरत नहीं है, परंतु यह समझने की आवश्यकता है कि जिस दया का हमने अब तक पालन किया है उसके द्वारा हमें यह पता लगा है कि सच्ची दया समानता की स्थापना में है। असमानता की व्यवस्था में थोड़ी-सी दया का पालन करना अच्छा है; इससे आत्मा को कुछ सांत्वना मिलती है। परंतु इतना काफ़ी नहीं है; इसमें सच्ची दया में कमी रह जाती है। सच्ची दया का निर्माण तो समानता की स्थापना से ही हो सकता है। अगर यह रुख अपनाया जाए, तो दया के विकास के लिए किए गए हमारे पूर्वजों के कठिन परिश्रम का लाभ हमें उत्तराधिकार में मिल सकेगा और हम उसका उपयोग समानता का नया प्रयत्न निर्माण करने में कर सकेंगे। इसलिए हमें दया के विकास की पुरानी परंपरा को नष्ट करके समानता के विचार की स्थापना इस तरह करने की भूल नहीं करनी चाहिए, मानो वह कोई नई और प्राचीन परंपरा के विरुद्ध चीज है।

वर्तमान युग के लोग वास्तविक जीवन में समानता सिद्ध करने के लिए एक कदम आगे बढ़ा रहे हैं। ऐसा करने में हमें अपने पूर्वजों के महान सम्मिलित प्रयत्न का बल अपने साथ लेकर आगे बढ़ना चाहिए, क्योंकि उन्होंने इस पर बड़े धैर्यपूर्वक विचार किया है। हमें भी इस आदर्श पर सतत विचार करना चाहिए। हमने विकास-क्रम में एक नई मंजिल शुरू की है। यह किसी पुस्तक का नया अध्याय आरंभ करने जैसी बात है। इसलिए हमें इस गुण का उतना ही सावधानीपूर्वक

विकास करना चाहिए, जितनी सावधानी से कोई लेखक अपनी पुस्तक का नया प्रकरण लिखता है। हम जानते हैं कि दया कैसे मिथ्या हो सकती है तथा एक तरफ अहंभाव पैदा कर सकती है और दूसरी तरफ दरिद्रता और दीनता को जन्म दे सकती है। अगर हम जागरूक नहीं रहेंगे तो यही हाल समता का हो सकता है और हम सदसद्-विवेक की शक्ति से वंचित हो सकते हैं। अगर समता से विवेक-शक्ति नष्ट हो जाए, तो वह स्वयं चिरस्थायी नहीं हो सकती और वह मिथ्या सिद्ध होगी। और अगर समता विवेक खोकर संपादित की जाएगी, तो फिर विवेक को पुनः प्राप्त करने के लिए हमें कई सदियों तक कोशिश करनी होगी। इसलिए हमें ऐसी समता का विकास करना चाहिए, जिसके साथ सदसद्-विवेक जुड़ा हुआ हो और उसमें पूर्ण रूप से विकसित दया का समावेश हो। इसके लिए सतत आत्म-निरीक्षण करने और जिस मलिनता से मन में अंधकार पैदा होता है उसे पूरी तरह हटा देने की ज़रूरत होगी। जिस अहंकार से असमानता और ऊँच-नीच की भावना पैदा होती है, उसका लवलेश भी जड़ से उखाड़कर निकाल देना पड़ेगा। अगर हम इस काम का बीड़ा नम्रता और सचाई के साथ उठा लें, तो हमें यह देखकर आश्चर्य होगा कि हम सबको आदर्श के निकट पहुँचने के लिए बहुत-कुछ करना पड़ेगा। मेरे पास व्यक्तिगत संपत्ति नहीं है, इसलिए शायद यह माना जाता होगा कि मुझे, जहाँ तक आर्थिक समानता का सम्बन्ध है, समता के क्षेत्र में ज्यादा कुछ नहीं करना पड़ेगा। परंतु मुझे भी बहुत-कुछ करना बाकी दिखाई देगा। अपने मन की गहरी परीक्षा से पता चलेगा कि मुझे भी बहुत-कुछ प्रगति करनी होगी। साथ ही ऐसी असमानताएँ भी होती हैं, जिनका कारण शारीरिक भिन्नताएँ होती है। उन्हें भी मिटाना ही पड़ेगा।

एक और बात भी है, जो किसी विचार की सफलता के लिए महत्त्वपूर्ण है। हम समाज में जितनी समानता लाना चाहते हैं, उससे सौ गुनी समानता हमें अपने व्यक्तिगत जीवन में पैदा करनी होगी। जब तक ऐसा नहीं किया जाएगा, तब तक सफलता की कोई संभावना नहीं हो सकती। मानव-शरीर ९८ डिग्री का तापमान इसीलिए कायम रख सकता है कि सारी गरमी के उद्गम अर्थात् सूर्य की उष्णता अनंत है। आप भलीभाँति कल्पना कर सकते हैं कि अगर सूर्य मानव-शरीर से ज्यादा गरम न हो, अर्थात् उसका तापमान ९८ डिग्री ही हो, तो हमारे शरीर का

क्या हाल होगा? इसलिए सेवकों का धर्म है कि वे इस मामले में समाज से बहुत ज्यादा आगे रहें। तभी उनकी उदात्त आकांक्षाएँ और उनके कार्य सफल होंगे।

हरिजन, ३०-६-१९५१ **विनोबा**

५. साम्यवाद और सर्वोदय में भेद

साम्यवाद और सर्वोदय में साध्य का भेद नहीं, साधनों का भेद है। गांधीजी स्वयं कई बार कह चुके हैं कि मैं हिंसा-रहित साम्यवादी हूँ। उन्होंने यह कहकर इस भेद को स्पष्ट भाषा में प्रकट कर दिया है कि मैं साम्यवाद का प्रचार नहीं करता, परंतु साम्यधर्म का प्रचार करता हूँ। अपने जीवन के अंत तक उनका प्रयत्न इस धर्म का पालन करने का रहा। उन्होंने नीचे से नीचे के वर्ग के भारतीयों के साथ एकता साधकर रहने की कोशिश की। वे ऐसे परिवार में पैदा हुए थे जो कुछ पीढ़ियों से राजकाज का ही धंधा करता आ रहा था। यद्यपि वे इस काम से न बच सके, फिर भी उन्होंने राजनीति को नहीं, बल्कि उससे दूसरे नम्बर की चीज अर्थात् वकालत का पेशा अख्तियार किया। इस बीच में उन्होंने रस्किन का *अन्टु दिस लास्ट* (सर्वोदय) पढ़ा, तो उन्हें पता चला कि अगर वकालत की जाय तो उसे अपने लिए दौलत जमा करने का साधन बना लेना उचित नहीं। इसलिए उन्होंने अपनी तमाम व्यक्तिगत सम्पत्ति का त्याग कर दिया। टोल्स्टॉय और गीता का अध्ययन करने पर वे इस नतीज़े पर पहुँचे कि वकालत का धंधा कोई 'उत्पादक' धंधा नहीं है और उन्हें स्वयं अपने ही शरीर-श्रम से कोई चीज पैदा करके अपनी आजीविका उपार्जन करनी चाहिए। इस प्रकार वे वकालत से ज़मीन की तरफ मुड़े और अपने को किसान बताने लगे। परंतु किसान के पास कुछ न कुछ सम्पत्ति होती है और कारीगरों से उसकी सामाजिक और आर्थिक हैसियत ऊँची होती है। इसलिए वे जुलाहा बन गए। मगर जुलाहे की हालत खेती के मजदूर से बेहतर होती है और मजदूर भी भंगी से कहीं ऊँचा होता है। क्योंकि भंगी के पास न तो औज़ार होते हैं, न कला-विज्ञान का कौशल होता है, न ज्ञान होता है और न समाज में उसकी कोई प्रतिष्ठा होती है। इसलिए गांधीजी अपने को भंगी कहने लगे, उन्हींमें रहने लगे, उनके मित्र बन गए और उन्होंने अपने इन ग़रीब भाइयों की स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया।

वे जितना ही समानता का पालन करने लगे, उतना ही यह अनुभव करने लगे कि उस पर अमल करना कितना मुश्किल है। वे यह नहीं कह सकते थे कि उन्हें इसमें पूरी सफलता मिल गई। इसलिए वे इस ध्येय की प्राप्ति के लिए बड़ी लगन से प्रयत्न करते रहे। लेकिन वैसा न करने वाले

के प्रति उनके मन में कभी रोष न आया। उन्होंने देखा कि मौजूदा समाज-रचना में यह बात मनुष्य के संस्कार में उत्तर गई है कि आर्थिक और सामाजिक शोषण और असमानता मानो कुदरती नियम हों। जिस तरह मनुष्य गाय-बैल का अपने फायदे के लिए उपयोग कर लेता है और उनके तथा अपने बीच की असमानता को कुदरती मानता है, उसी तरह मनुष्य-मनुष्य के बीच के शोषण और असमानता को भी स्वयंसिद्ध मानना दुनिया का पुराना संस्कार है। देश के ग़रीब से ग़रीब नागरिक के जी में भी पूँजीवादी विचार जमा हुआ है। संभव हो तो सभी किसी दिन जमींदार या पूँजीपति बनना और ऐसी स्थिति पैदा कर लेना चाहते हैं, जिससे उन्हें अपनी रोजी के लिए काम न करना पड़े—कम से कम शरीर-श्रम तो न करना पड़े। आराम का और शरीर-श्रम रहित जीवन व्यतीत करने का अवसर प्राप्त करने की इस आकांक्षा के कारण ही लोग एक तरफ जीवन और दर्जे की असमानता का विरोध करना छोड़ देते हैं और दूसरी ओर उन लोगों से ईर्ष्या करते हैं जिन्होंने उनसे पहले यह आकांक्षा पूरी कर ली है। चूँकि उनमें से किसी का भी सादे, कठोर और परिश्रमी जीवन में विश्वास नहीं होता, इसलिए भले ही एक को पूँजीपति और दूसरे को साम्यवादी कहा जाए, मगर दोनों ऐशआराम की एक ही गद्दी के प्रतिद्वंद्वी दावेदार हैं। जब तक मनुष्य आराम और काम न करने को जीवन की नियामत मानता है, तब तक वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हिंसा का आश्रय लिए बिना नहीं रह सकता।

अगर अहिंसा और शरीर-श्रम को साम्यवादी आंदोलन का अभिन्न अंग मान लिया जाए, तो उसके साथ झगड़े का कोई कारण नहीं रह जाता। साम्यवाद के प्रति सहानुभूति होने का परिणाम यह होना चाहिए कि सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में साम्यवादी लोग जो परिवर्तन हिंसा द्वारा करना चाहते हैं, उन्हींके लिए हम उचित अहिंसक उपाय ढूँढ़ें।

हरिजन, ५-६-१९४९ **कि॰ घ॰ मशरूवाला**

दसवाँ विभाग: आधार रुपया नहीं, श्रम

१. श्रम का गौरव

लोगों के दिलों में यह विचार गहरी जड़ पकड़ चुका है कि जो लोग हाथ-पैर से काम करते हैं वे नीचे हैं। श्रम का गौरव और महत्त्व जाता रहा। ऐसी ही परिस्थितियों में विदेशियों ने हमारे देश पर विजय प्राप्त की थी।

इस परिस्थिति का अंत करना होगा और जो लोग उत्पादन का काम करते हैं उन सबको देश के सच्चे नागरिक समझना होगा। उनका समाज में आदर होना चाहिए और उन्हें सभ्य जीवन में योग्य मज़दूरी मिलनी चाहिए। उनका जीवन इतना सुखी बना देना चाहिए कि दूसरे उनसे ईर्ष्या करने लगें।

विनोबा

(१८-१०-१९५१ को दिल्ली में दिए गए भाषण से)

हरिजन, १९-१-१९५२

२. मध्यमवर्ग के लोगों से

दूसरों की मेहनत पर निर्भर रहना पूरी तरह छोड़ा न जा सके तो भी उसे कम करने का संकल्पपूर्ण प्रयत्न तुरंत शुरू हो जाना चाहिए। अपना जीवन सादा बनाओ और हर काम खुद करने की कोशिश करो। स्त्री-पुरुष दोनों को कौटुम्बिक जीवन में इस अप्रिय नुस्खे पर अमल करना चाहिए। इस परिवर्तन से काफ़ी असुविधा महसूस हो सकती है, खासकर जब वह केवल प्रतीक के रूप में नहीं बल्कि पूरी लगन के साथ किया जाएगा। परंतु ज्यों-ज्यों जीवन का नया ढंग आगे बढ़ेगा त्यों-त्यों ऐसे आनंद प्रगट होंगे, जिनका पहले कभी अनुभव नहीं हुआ था। पश्चिम में मध्यमवर्ग के लोग इस नुस्खे पर अब भी गर्व और हर्ष के साथ अमल करते हैं। परंतु उनके यहाँ श्रम बचाने वाले अनेक यंत्र हैं, जो हमारे देश में नहीं हैं। किसी भी बात में हमारी और उनकी एक-सी स्थिति की आशा नहीं की जा सकती। लेकिन हमारे अपने देश की अधिक बड़ी कठिनाई और परिस्थितियों के बावजूद हमें उनसे सबक सीखना चाहिए और सीखे हुए सिद्धांतों पर अमल करने की कोशिश करनी चाहिए। साथ ही श्रम बचाने वाले यंत्रों में एक संभावना यह रहती है कि सूक्ष्म रूप में वे हममें एक तरह की पराधीनता पैदा करते हैं और उनका नतीज़ा भी सीधी-सादी पराधीनता की तरह काम के ठप्प हो जाने में आ सकता है। इसलिए हमें चिंता में धुलते न रहकर दैनिक जीवन में सच्ची स्वाधीनता के लिए अर्थात् दूसरों पर निर्भर न रहने के लिए काम करना चाहिए। सच्चे सुख के लिए न राजनीतिक स्वाधीनता काफ़ी है और न राजनीतिक लोकतंत्र ही काफ़ी है। हमें सब बातों में समानता साधनी होगी। जब तक हम सब शारीरिक श्रम नहीं करेंगे, तब तक हम लोकतंत्र को स्थिर नहीं बना सकेंगे। काम में दर्जों का कोई भेद नहीं होना चाहिए। सभी कामों को समान रूप में ऊँचे, पवित्र और गृहदेवताओं को अर्पण की जाने वाली पवित्र अंजलि समझना चाहिए। नहीं तो हमें उन लोगों का शासन स्वीकार करना पड़ेगा जो काम करने को तैयार है और हमारे जीवन उनकी दया पर निर्भर रहेंगे। एक नया और आवश्यक मध्यमवर्ग पैदा होगा, जिसका आधार जन्म नहीं होगा। वह हाथ-पैरों से काम करने वाले मज़दूरों का उच्चा मध्यमवर्ग होगा, जिन्होंने काम और विद्या द्वारा कुशलता और प्रतिष्ठा प्राप्त की होगी; जो योजना

बनाने, पथ-प्रदर्शन करने और शिक्षा देने में समर्थ होंगे; जो बुद्धि, परिश्रम या परिस्थिति के अनुसार नीचे या ऊपर जाते रहेंगे और जिन्हें केवल जन्म के कारण ऊँचे पद नहीं मिलेंगे।

जन्म के आधार पर बने हुए 'मध्यमवर्ग' का अब अंत हो ही जाना चाहिए। यह काम स्वेच्छा से संपन्न हो सकता है, और यही ज्यादा अच्छा होगा। यह कार्य हम ऐसे कामों के द्वारा शुरू कर दें, जो तमाम स्कूलों और कालेज़ों में आडंबर और मिथ्याभिमान को मौका न देने वाले शिक्षकों की देखरेख में कराए जाए।

हरिजन, ९-२-१९५२ **च॰ राजगोपालाचार्य**

३. उत्पादक श्रम की आवश्यकता

हमारी समस्याओं का कारण क्या है? मेरे खयाल से यह कारण शरीर-श्रम के प्रेम का अभाव है। मैं नहीं समझता कि हमारी आबादी बड़ी होने पर भी इतनी बड़ी है, जिसका देश में पालन न किया जा सके। खाने वाले मुँह बहुत ज्यादा हैं, तो कमाने वाले हाथ भी बहुत ज्यादा हैं। परंतु हाथ प्रेम के साथ काम नहीं करते; वे काम को सौभाग्य न समझकर आफत समझते हैं। इसलिए हाथ अधिक से अधिक पैदा न करके उतना ही काम करते हैं जितना अनिवार्य हो। सब मुँह के लिए अपना पूरा हिस्सा चाहते हैं, मगर हाथों से अपने हिस्से का पूरा काम नहीं करते। काफ़ी पैदावार न होने से अधिक बड़ी विपत्ति इस प्रकार की श्रमनिष्ठा का अभाव है।

मैं इसे हमारा चिरकालीन दोष मानता हूँ। काम बंद रखने का बहाना ढूँढ़ने में हम कभी नहीं चूकते। रामनवमी या और कोई पर्व हो तो हमें छुट्टी चाहिए; कोई दिवाली आदि त्योहार हो, घरमें शादी हो या बालक का जन्म हुआ हो या गांधीजी का जन्मदिन हो, तो भी हम काम बंद कर देंगे। किसी घर वाले की मौत हो जाए या गांधीजी का ही मृत्यु-दिवस हो, तो भी हम काम करना नहीं चाहते। घर में कोई अतिथि या शहर में कोई बड़ा नेता आ जाए, तो काम बंद कर देने के लिए इतना कारण काफ़ी है। गरज यह कि अपने हाथ-पैरों को बेकार रखने के लिए हमें कोई मौका मिल जाए, तो हम किसी भी बहाने को हाथ से नहीं जाने देंगे।

गांधीजी ने केवल खद्दर तैयार करने के लिए ही कताई पर अत्यधिक जोर नहीं दिया था। कताई से खद्दर तो तैयार होती ही; परंतु उनका जोर उस क्रांति पर था, जो उत्पादक श्रम का आग्रह रखने से होने वाली है। उन्होंने राष्ट्र के सामने इस ढंग का उत्पादक काम रखा, जो संपत्ति उत्पन्न करने के साथ-साथ ऐसा भी है, जिसे बूढ़े और बालक दोनों समान रूप में कर सकते हैं। उत्पादक श्रम ऐसी चीज़ नहीं है, जिससे किसी को भी—जो कुछ न कुछ काम कर सकता है—मुक्त होने की इच्छा करनी चाहिए। जो लोग चीज़ों की खपत में हिस्सा बँटाते हैं, उन्हें उनके उत्पादन में भी भाग लेना चाहिए। कोई न्यायाधीश या शिक्षक यह नहीं कह सकता कि वह समाज की कोई और सेवा कर रहा है। चूँकि वह सिर्फ पुस्तकों और कागजों पर ही गुजर नहीं करता; उसे

भोजन भी चाहिए और दूसरे सब लोगों की भाँति कपड़ा भी चाहिए, इसलिए उसे उनके उत्पादन में भी सीधा हिस्सा लेना ही चाहिए।

परंतु दुर्भाग्य से काँग्रेस गांधीजी को नहीं समझ सकी और उसने सूत की अपेक्षा चार आने देने का अधिक महत्त्व माना। उसने संपत्ति और पैसे के बीच हमेशा का घोटाला कर दिया। वह महसूस नहीं किया गया कि हाथ-कते सूत के रूप में चंदा देने से नई संपत्ति का उत्पादन होता है, जो पैसे देने से नहीं होता। पैसा तो इस समय हमारे पास बहुत है; परंतु समृद्धि को सूचित करने वाली संपत्ति घट गई हैं। अगर हम पैसे की प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं, तो श्रम की प्रतिष्ठा अपने-आप घट जाती है। गांधीजी की योजना में काँग्रेस को एक लाख रुपया देने वाला व्यक्ति उसका दाता तो समझा जाता, मगर वह मत देने का हकदार सदस्य नहीं माना जाता। लेकिन हाथ-कता सूत देने वाला मतदाता बन जाता। वह एक क्रांतिकारी विचार था, जिसे काँग्रेस समझ नहीं सकी।

(१०-३-१९४९ को दिए गए प्रार्थना-प्रवचन से) **विनोबा**

हरिजन, १७-४-१९४९

४. खादी—स्वावलम्बी श्रम का प्रतीक

खादी गांधीजी के रचनात्मक कार्यक्रम का न सिर्फ हिंदुस्तान के ही लिए, बल्कि सारी दुनिया के लिए केन्द्र है। यह याद रखना चाहिए कि खादी रुई के कपड़े तक ही सीमित नहीं है। हाथ-कता हाथ-बुना ऊनी और रेशमी कपड़ा भी खादी है। और सर्वोदय के आदर्श का पूरा विचार करने पर यह समझ लेना कठिन नहीं है कि जीवन की इस आवश्यक वस्तु के बारेमें न सिर्फ भारत में ही, बल्कि यूरोप और अमेरिका के अत्यंत यंत्र-प्रधान और उद्योग-प्रधान देशों में भी प्रत्येक घर को यथासंभव स्वावलंबी बनना चाहिए। वास्तव में, जैसा श्री विनोबा ने कुछ माह पहले बताया था, किसी सभ्य समाज में मनुष्य की सबसे पहली ज़रूरत रोटी नहीं, कपड़ा है। आप कुछ दिन तक भूखे रहकर तो दुनिया में कहीं भी घूम सकते हैं और आपको शरमिन्दा होने की ज़रूरत नहीं होगी, मगर आधुनिक सभ्य समाज आपको अपने घर के किसी भी हिस्से में नंगे घुमने की इजाज़त नहीं देता। इसलिए संभव है कि हर आदमी अपनी खुराक खुद ही पैदा न कर सके, मगर उसे कम ते कम अपना कपड़ा तो आप ही तैयार कर लेना चाहिए। और सौभाग्य से खुराक के उत्पादन से यह काम बहुत आसान और हरएक के बूते का भी है। इसके सिवा, नैतिक दृष्टि से देखें तो खादी खास तौर से शांतिपूर्ण और अहिंसक व्यवस्था की प्रतीक है। वह परिश्रमशीलता, शरीर-श्रम, अशोषण और आत्माभिव्यक्ति की सूचक है। पता नहीं यह बात सर्वोदय आंदोलन के प्रशंसक कहाँ तक अनुभव कर सकेंगे, परंतु जैसी श्री काकासाहब कालेलकर ने साहसपूर्वक भविष्यवाणी की थी, एक दिन ऐसा आएँगा जब यह विचार शायद स्पष्ट रूप से मान लिया जाएगा और विदेश जाने वाले भारतवासी संसार के अत्यंत उद्योग-प्रधान लोगों के सामने चरखा और हाथ-करघा रखने में संकोच नहीं करेंगे।

हरिजन, २७-३-१९४९ **कि॰ घ॰ मशरूवाला**

५. शरीर-श्रम

रुपये-पैसे का कम से कम उपयोग करने के लिए विनोबाजी आजकल अपने परमधाम आश्रम, पवनार में एक महान प्रयोग कर रहे हैं। उनकी राय से लेन-देन के एकमात्र साधन के रूप में रुपये ने संसार में जितना नुकसान और सत्यानाश किया है, उतना और किसी चीज ने नहीं किया। वे अपने थोड़े से साथियों-सहित इस काम में डूबे हुए हैं कि अत्यंत सीधे-सादे औज़ारों से और ज़मीन जोतने के लिए बैलों पर भी निर्भर न रहकर ज़मीन की पैदावार कैसे बढ़ाई जा सकती है। वे यह देखना चाहते है कि मौजूदा परिस्थितियों में, जब कि पम्प, मशीनें और ट्रेक्टर ही खेतों के नए से नए और वैज्ञानिक औज़ार माने जाते हैं, केवल शरीर-श्रम से खेती में क्या सफलता मिल सकती है।

शिवरामपल्ली में उन्होंने जब भी मौका मिला यह मत प्रतिपादित किया कि श्रम की पवित्रता स्वीकार की जाए और उसके द्वारा सारे रचनात्मक कार्यक्रम को नई दिशा दी जाए। आचार्य विनोबा के मतानुसार, सीधे-सादे शरीर-श्रम की शुद्धता और वर्तमान सभ्य जीवन के सब मूल्यों का इस नए मूल्य के प्रकाश में पुनर्मूल्यांकन हमारी तमाम बुराइयों और कठिनाइयों का एकमात्र रामबाण इलाज़ है। अगर हम रुपये का चलन उठा दें और श्रम को नई श्रद्धा, नए उत्साह और नई पवित्रता के साथ अपना लें, तो संसार की स्थिति में कायापलट हो जाए। इस समय सबसे बड़ी आवश्यकता इस नये आदर्श के साथ निरंतर पैदावार बढ़ाने की है। विनोबा ने बार-बार बताया है कि अगर हम अपने पास के सादे से सादे औज़ारों की मदद से अपने हाथों का पूरी तरह उपयोग करें, तो हमारी ज़रूरतें आसानी से पूरी हो जाएगी। अगर हम शरीर-श्रम को इस दृष्टिकोण से देखना सीख जाए, तो अशोषण, विकेन्द्रित समाज, सादगी, जीवन का पवित्र सौंदर्य और आर्थिक समानता अवश्य प्राप्त हो जाएगी।

हरिजन, २८-४-१९५१

६. पैसे से मुक्ति

राजघाट, दिल्ली के अपने प्रार्थना-प्रवचन में विनोबाजी ने कहा कि पैसे की व्यवस्था उठ जाने के बाद ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था श्रम के आधार पर खड़ी की जानी चाहिए। कुछ लोगों की कल्पना है कि मैं फिर से पुरानी बार्टर (वस्तुओं की अदला-बदली) पद्धति लाना चाहता हूँ। मेरी यह योजना कतई नहीं है। मैं सिक्के के विरुद्ध नहीं हूँ। असल में मैं धातु के सिक्कों से कागज़ के सिक्के को तरज़ीह देता हूँ। परंतु मैं तो श्रम का सिक्का चाहता हूँ। वह किसी शासक के हुक्म से नासिक में छपा हुआ नहीं होना चाहिए। वह सिक्का खुद गाँव वालों का अपने ही उपयोग के लिए स्वीकार किया हुआ होना चाहिए। इस सिक्के में उधार का कोई सवाल नहीं होना चाहिए।

हरिजन, २९-१२-१९५१ **विनोबा**

७. अपरिग्रह और संस्थाएँ

कुछ लोग अपने लिए परिग्रह नहीं करते, परंतु संस्थाओं के लिए कर लेते हैं। यह उस आदमी की-सी बात है जो अपने खातिर हिंसा नहीं करता, मगर किसी ध्येय के नाम से या देश के लिए हिंसा करता है। मेरी राय में दोनों तरह के परिग्रह समान रूप से बुरे हैं और असंगति-दोष उत्पन्न करते हैं। उदाहरणार्थ, चरखा-संघ के पास बचा हुआ रुपया होता है, जिसे वह बैंकों में जमा रखता है। यह इसलिए किया जाता है कि ब्याज मिले। स्पष्ट है कि चरखे के उद्देश्य के लिए वह जितना खर्च कर सकता है, उससे अधिक रुपया उसके पास है। परंतु बैंक ब्याज कैसे दे सकते हैं? वे इन रुपयों को विविध प्रकार के लाभप्रद उद्योगों में लगाते हैं। अब देखिए, यह कितनी परस्पर विरोधी बात है। रुपया चरखे के काम के लिए ही दिया गया है, इसलिए चरखा-संघ उसे गोसेवा के काम में नहीं लगा सकता, यद्यपि वह उसी रचनात्मक कार्यक्रम का एक अंग है जिसे चरखा-संघ ने स्वीकार किया है। परंतु वही रुपया बैंकों के जरिए बड़े पैमाने के उद्योगों में लगाया जा सकता है और लगाया जाता है। यह विरोध हमारे रुपया रखने के लालच से पैदा होता है, चाहे वह हमारी संस्थाओं के नाम पर ही क्यों न हो। यही हाल कस्तूरबा कोष का है और यही गांधी स्मारक कोष का होगा। हमें इतना रुपया इकट्ठा करने की ज़रूरत क्या है? अगर इतनी रकम की सचमुच आवश्यकता है, तो उसे एक या दो वर्षों में खर्च करना संभव होना चाहिए। परंतु ऐसा होता नहीं है और किसी को दिखाई नहीं देता कि बैंकों में यह रुपया रखकर कमाई करने से कितनी बुराई होती है। बात यह है की हमारा लालन-पालन ऐसे समाज में हुआ है, जिसमें ब्याज न कमाना मूर्खता माना जाता है। गीता हम से सब प्रकार का परिग्रह छोड़ने को कहती है—त्यक्त-सर्व-परिग्रह:। इसमें धर्मार्थं संस्थाओं का परिग्रह भी शामिल है। क्योंकि अगर हम परिग्रह किसी भी रूप में करते हैं, तो हमें वे सारी बुराइयाँ करनी पड़ती हैं, जो व्यक्तिगत उद्देश्य से किए जाने वाले परिग्रह के साथ जुड़ी हुई हैं।

हरिजन, १०-४-१९४९

विनोबा

८. रुपये का दान नहीं

मुझे कुछ दिन से केवल शरीर-श्रम के आधार पर संस्थाएँ चलाने का पागलपन सूझा है। मेरा पक्का विश्वास है कि ऐसा किए बिना हमारी संस्थाएँ तेजस्वितापूर्वक काम नहीं कर सकतीं। यह उचित नहीं कि बापू के चले जाने के बाद लोगों से अब भी हम दान माँगें और अपना काम दान के रुपये से चलाएँ। मुझे आशा हैं कि गांधी स्मारक कोष गांधीजी के नाम पर एकत्रित किया गया आखिरी कोष होगा। इसके बाद अब कोई भी उनके नाम पर रुपया जमा नहीं कर सकता और न करना चाहिए। हमें अब श्रम का ही संगठन करना चाहिए; क्योंकि लोग गांधीजी के खातिर प्रेमपूर्वक पैसे तो देंगे, परंतु इससे हमारा नाश हो जाएगा।

हरिजन, ५-१-१९५२ **विनोबा**

ग्यारहवाँ विभागः ग्राम-सर्वोदय की दिशा में

१. हिस्सेदारी का सिद्धांत

हमें जीवन का समग्र रूप में और उसके सारे विभिन्न पहलुओं की दृष्टि से विचार करना चाहिए। तब खेती तथा दूसरे उद्योगों या धंधों के बीच कड़ा विभाजन और उसके कारण होने वाला हित-संघर्ष भी नहीं हो सकेगा। यह संभव होना चाहिए कि एक धंधे में काम करने वाला आदमी दूसरे धंधे में भाग ले सके या दूसरे धंधों की कमाई में हिस्सेदार बन सके। हमारा लक्ष्य समाज का इस ढंग से विकास करना होना चाहिए।

एक आदमी ज़मीन का मालिक और दूसरा काश्तकार होता है। और उनका आपस में भूस्वामी और किसान का या मालिक और मज़दूर या गुलाम का संबंध होता है। इस संबंध में और उसके कारण होने वाले तरह-तरह के अन्यायों के मूल में उपरोक्त सर्वांगी दृष्टि का अभाव है।

किसान अपनी मेहनत से जो पैदा करता है, उसमें ज़मींदार का हिस्सा चिरकाल से उचित माना जाता रहा है। परंतु किसान ज़मींदार को खेती के परिश्रम से बचाकर जो दूसरे धंधे करने का अवकाश देता है, उनसे जमींदार को होने वाली कमाई में किसान को कोई हिस्सा नहीं मिलता।

निष्क्रिय ज़मींदारी की प्रथा को खतम करके इस अन्याय का अंत करने की बातें सोची जाती हैं। यह कहा जाता है कि या तो ज़मींदार खुद शुद्ध किसान बनकर ज़मीन में खेती करे या उस ज़मीन से उसका कोई वास्ता न रहे। लेकिन यह इस बुराई के इलाज की सही दिशा नहीं मालूम होती।

भारतीय ग्रामों के सम्यक् उत्थान के लिए यह महत्त्व की बात है कि ग्रामवासी को केवल किसान, केवल चरवाहा या केवल व्यापारी नहीं होना चाहिए। आम तौर पर इनमें से कोई भी धंधा साल के ३६५ दिन लगातार पूरा काम नहीं देता। अगर इन सबका विकास इस प्रकार किया भी जा सके कि उनमें लगे हुए लोगों को पूरा काम मिल जाए, तो भी यह ज़रूरी है कि उन्हें अपने मुख्य धंधे के साथ कोई दस्तकारी का धंधा करना चाहिए। निरे किसान का अकसर पूरा बौद्धिक

विकास नहीं होता। निरा दुकानदार या निरा कारीगर शारीरिक दुर्बलता और नैतिक कायरता का शिकार हो जाता है।

गाँव की आवश्यकताओं के कारण कारीगर-वर्ग की उत्पत्ति हुई। जहाँ स्थानीय कारीगर पैदा नहीं किए जा सके, वहाँ दूसरी जगह से बुला लिए गए। इन्हीं ज़रूरतों के कारण निरा किसान व्यापारी के नियंत्रण में आया। कृषक-वर्ग में से भी कुछ लोग, जो दूसरों से ज्यादा बुद्धिशाली या चालाक थे, व्यापार का धंधा करने लगे। उन्हें अपनी ज़मीनें छोड़ने की ज़रुरत नहीं पड़ी। पहले वे लोग मज़दूरी देकर और बाद में सालाना करार पर काश्तकारों से खेती कराने लगे।

इस प्रकार श्रम-विभाजन तो हुआ। मगर कमाई के बँटवारे में व्यापारी ने ज़मीन की पैदावार और कारीगर की मेहनत दोनों में से हिस्सा चाहा, जब कि अपने व्यापार की आमदनी में से किसी को भी हिस्सा देना मंजूर नहीं किया। इसी तरह ज़मींदार ने मज़दूर की पसीने की कमाई में से हिस्सा लिया और कारीगर को गुजर मात्र से जरा भी अधिक न देकर उसकी कुशलता का भी अनुचित लाभ उठाया, मगर खुद उसने दूसरी ज़मीनों या धंधों से होने वाली अपनी कमाई में से मज़दूर या कारीगर को कोई हिस्सा नहीं दिया। इस प्रकार खेती के मज़दूर और कारीगर को ज्यादा से ज्यादा मेहनत करनी पड़ती और कम से कम मेहनताना मिलता।

अब जो सुधार किए जा रहे हैं, उनका उद्देश्य यह है कि ज़मींदार और 'बिचौनियों' (अर्थात् दुकानदार या दलाल) को हटा दिया जाए और कारीगरों और खेती के मज़दूरों को 'स्वतंत्र' वर्ग बनाकर इस लायक बना दिया जाए कि उन्हें अपने परिश्रम के फल का उचित भाग मिलता रहे।

चूँकि बड़े उद्योगों को बंद करने का किसी का साहस नहीं होता, इसलिए राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था में उद्योगपति का सम्मानपूर्ण स्थान सुरक्षित है।

सम्मिलित हिंदू परिवार की प्रथा का आधार रक्त-संबंध था। किसी समय एक-एक परिवार में दो-दो अढ़ाई-अढ़ाई सौ आदमी होते थे। इस कारण खेती करना, पशुओं की देखभाल करना, भिन्न-भिन्न चीजें तैयार करना, माल को बाज़ार में बेचना वगैरा कामों का परिवार के अलग-अलग व्यक्तियों में विभाजन किया जा सकता था। सब एक ही कुटुम्ब के आदमी थे और इसलिए

सबकी कमाई में हरएक का हिस्सा होता था। वह प्रथा तो अब मिट गई और उसी रूप में उसे फिर से जारी नहीं किया जा सकता। परंतु उस प्रथा का यह उसूल बड़ा कीमती है कि सब की कमाई में सब का हिस्सा हो। उसका लाभ अब केवल बहुविध कामों के लिए बनने वाली सहकारी समितियों द्वारा ही उठाया जा सकता हैं। सारे कानून और सुधार अब ऐसी समितियों को वृद्धि के लिए ही होने चाहिए।

काश्तकारी कानून का भी यही उद्देश्य होना चाहिए। कथित ज़मींदार, किसान, काश्तकार, खेती का मज़दूर, देहाती कारीगर, दुकानदार और प्रवासी—जो थोड़े समय कमाई के लिए बाहर चला जाता है, सबको एक सम्मिलित समाज में इस प्रकार गूंथ देना चाहिए कि सबको सबकी कमाई का हिस्सा मिलता रहे और कोई बेकार न रहने पाये। अवश्य ही सबको जीवन-वेतन मिलेगा। लोगों को ऐसे सामाजिक और आर्थिक जीवन का मार्ग बताया जाए और शिक्षा दी जाए, जिसका आधार इस प्रकार की सर्वांगी सहकारी समितियाँ हों।

अगर ज़मीन-मालिक अपनी दूसरी सारी कमाई में काश्तकार और खेती-मज़दूर को हिस्सेदार बनाने के लिए तैयार हो, तो ज़मीन का स्वामित्व उसी के पास रहने देने में कोई हर्ज नहीं।

इसमें भी कोई आपत्ति नहीं कि व्यापारी अपनी बचत का रुपया ज़मीन में लगा दे और उसे मज़दूरों या काश्तकारों से जुतवाकर उसकी पैदावार का हिस्सा ले, अगर वह अपनी दूसरी आमदनी में अपने काश्तकारों और मज़दूरों को हिस्सेदार बनाने के लिए तैयार हो।

किसी सम्मिलित हिंदू परिवार का कोई साहसी नौज़वान विदेश जाकर रुपया कमाता है। उसे उसमें से परिवार के दूसरे लोगों को उसी प्रकार हिस्सा देना पड़ता है, जिस प्रकार उसकी अनुपस्थिति में होने वाली घर की कमाई में स्वयं उसको हिस्सा मिलता है। तो फिर परिवार की सीमा को बढ़ाकर उसमें काश्तकार और मज़दूर को, बल्कि सारे गाँव को शामिल क्यों न कर लिया जाए? उस सूरत में ईर्ष्या के लिए कोई कारण नहीं रह जाएगा, बल्कि विदेशों में अपने साहस के लिए उसे सहायता और प्रोत्साहन मिलेगा। यह सहकारी सिद्धांत के आधार पर ही हो सकता है।

जब यह बात हो जाएगी तब निष्क्रिय ज़मींदारी, बिना मेहनत की कमाई और शोषण आदि शब्दों का प्रयोग ही उठ जाएगा।

नि:संदेह ५० एकड़ के खेतों से १०० या २०० एकड़ वाले बड़े खेतों में काश्त करना ज्यादा फायदेमंद है और उसी तरह छोटे-छोटे पशु-समूहों की अपेक्षा बड़े-बड़े पशु-समूहों का पालन अधिक उत्पादक है। शर्त यही है कि यह काम हमेशा सहकारी पद्धति से किया जाए।

अगर नए काश्तकारी कानून में इस प्रकार की सहकारी समितियों की वृद्धि की अनुकूलता नहीं है, तो यह स्वामी उचित ढंग से ज़रूर दूर कर ली जानी चाहिए। कानून को इस बात का स्वागत करना और उसे प्रोत्साहन देना चाहिए कि अभी तक जमींदार माने जाते रहे लोग अपनी ज़मीनों में ज्यादा दिलचस्पी लें, अपने देहात को लौट जाए, खुद खेती करने लगें, खेती का सुधार करें और अपने गाँवों के उद्योगों की उन्नति करें। मगर यह सब इस ढंग से होना चाहिए कि तमाम धंधों और सारी कमाई को सम्मिलित माना जाए और काश्तकार, कारीगर और मज़दूर सबको सम्मिलित कमाई का हिस्सा मिले।

किसान को अपनी ज़मीन से बड़ा मोह होता है और उसे वह आसानी से नहीं छोड़ेगा। वह कानून से बचने की भरसक कोशिश करेगा। इसलिए सबके हित में बेहतर यह होगा कि उसे न्याय और सर्वोदय के मार्ग पर चलने को राजी कर लिया जाए।

हरिजन, १७-१०-१९४८ **कि॰ घ॰ मशरूवाला**

२. गाँव की व्यवस्था

विनोबा ने समझाया कि दिल्ली में जो सरकार स्थापित हुई है, उससे यह आशा नहीं रखी जा सकती कि आपके गाँव में आकर वह सुख की वर्षा कर देगी। आपके गाँव में आग लग जाएगी, तो हैदराबाद से आकर लोग उसे नहीं बुझा सकते। यह मानव-शक्ति के बाहर की बात है कि कोई मनुष्य या मनुष्य-समूह एक जगह बैठ कर इतने बड़े मुल्क के शासन की देखभाल कर सके। इसलिए लोग प्रत्येक गाँव के इंतजाम के लिए अपनी ही कमेटी बना लें। इस कमेटी को गाँव की आवश्यकताओं का अध्ययन करके यथासंभव गाँव में ही उन्हें पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिए। कमेटी लोगों को शराब की बुराई से भी छुड़ाए। आपको यह भी सावधानी रखनी चाहिए कि कस्बों और शहरों में काँग्रेसियों, समाजवादियों और दूसरे दल वालों के जैसे झगड़े पैदा हो गए है वैसे आपके गाँव में न घुस जाए। लोग चुनाव के समय जिसे चाहें मत दे सकते हैं। लेकिन अगर बाहर वाले आकर गाँव में राजनीतिक फूट फैलाने की कोशिश करें, तो आपको शिष्टता किन्तु स्पष्टता के साथ उन्हें कह देना चाहिए कि हमें आपके राजनीतिक झगड़ों और मतों से कोई सरोकार नहीं, और जहाँ तक हमारे कामकाज का संबंध है, हम न तो काँग्रेसी हैं और न समाजवादी या साम्यवादी हैं। हम सब शुद्ध हिमायतनगर वाले ही हैं। मैं आपको चेता देता हूँ कि राजनीतिक लोग आपके पपस आकर गरीबों को अमीरों के खिलाफ, नौकरों को मालिकों के खिलाफ और एक को दूसरे के खिलाफ भड़काएँगे। आपको उनसे कह देना चाहिए कि हमारा गाँव एक है, हम सबका परिवार एक है और जैसे दूसरे लोग सारे देश की समस्याओं के बारेमें विचार करते हैं, वैसे हम भी गाँव की समस्याओं पर विचार करना चाहते हैं। अगर ग्रामवासी दृढ़ रहकर बाहर की बुराइयों को अपने गाँव में घुसने नहीं देंगे, तो वे अपने गाँव की बुराइयाँ एक-एक करके दूर कर सकेंगे।

(हैदराबाद के हिमायतनगर गाँव में दिए गए भाषण से) **विनोबा**

हरिजन, २०-१०-१९५१

३. सर्वोदयी शिक्षा

थोड़ी देर पहले मैं लड़कों के साथ खेल रहा था, तो मेरे मन में प्रश्न उठा कि इन बालकों के लालन-पालन की ज़िम्मेदारी उनके अपने माता-पिता पर रहनी चाहिए या सारे गाँव पर? अमीर के घर पैदा हुए पुत्र में और गरीब के यहाँ पैदा हुए पुत्र में कोई फर्क नहीं। दोनों ही ईश्वर के समान रूप हैं और दोनों ही अपने घरों में प्रकाश फैलाते हैं। अगर सारा गाँव मिलकर माता-पिता की भावना से अपने यहाँ के छोटे बच्चों की देखभाल का भार संभाल ले, तो सारे गाँव की प्रगति होगी। सामाजिक प्रगति का यही उपाय है और मैं इसे आपके विचारार्थ पेश कर रहा हूँ।

बच्चों की कोई जाति नहीं होती और न वे गरीब और अमीर का भेद जानते हैं। वे सब ईश्वर की समान प्रजा हैं। परंतु धनवान आदमी ने अपने ही स्वार्थ का ध्यान रखा और गाँव के विशाल हितों की उपेक्षा की तथा अपने लड़कों को शिक्षा के लिए शहर में भेज दिया। लड़का शहरी हो गया और ग्रामीण जीवन से घृणा करना सीखकर स्थायी तौर पर शहर में ही बस गया। वह देहातियों का मित्र नहीं बन सका और न उसने गाँव में काम किया। वह केवल फसल के वक्त अपना हिस्सा लेने के लिए गाँव में शकल दिखाने आ जाता था। मगर चूँकि वह गाँव में नहीं रहा और खेती के काम में उसने ध्यान नहीं दिया, इसलिए जितना उसे मिलना चाहिए था या मिलता उतना वह प्राप्त नहीं कर सका। इससे उसमें और गाँव वालों में दुर्भाव पैदा हो गया। और अगर गाँव वाले मिलकर उसके विरोध में हो गए, तो उसने धबड़ाकर पुलिस की मदद लेनी चाही। उसने सोचा कि लोग सब साम्यवादी बन गए हैं और मुझे नुकसान पहुँचाने पर तुले हुए हैं। पुलिस का परिस्थिति से निपटने का अपना ही ढंग होता है। वह प्रेम का ढंग तो हरगिज़ नहीं होता। पुलिस का जोर अपने पास के डंड़े में होता है। अंत में गाँव को बरबादी और मुसीबतें देखनी पड़ी और देहात में द्वेष की राक्षसी का बोल वाला हो गया। इसलिए अगर लोग सुखी ग्राम का निर्माण करना चाहते हों, तो उन्हें गाँव के तमाम बच्चों की शिक्षा का प्रबंध गाँव में ही करने का निश्चय करना चाहिए।

विनोबा ने समझाया कि गाँव के लड़के साथ-साथ बड़े होंगे, तो वे खेती का काम भी मिलकर करेंगे। उनमें न डर होगा, न दुर्भाव। जैसे कृष्ण अपने साथी ग्वालों को बुलाकर उन्हें अपना मक्खन और दहीं खिलाते थे, वैसे ही ये लड़के भी अपने मित्रों के साथ प्रेम से रहेंगे और उन्हें अपनी खुशियों में शरीक होने को निमंत्रित करेंगे। ऐसा गाँव गोकुल बन जाएगा, पृथ्वी पर स्वर्ग हो जाएगा। गोकुल में क्या था? यही कि सब लोग मिलकर गाँव की संपत्ति का उपभोग करते थे, चाहे वह सम्पत्ति दूध-मक्खन हो, शहद या गन्ने का रस हो, या चावल और जुवार हो। जब कोई आदमी अकेला चोर की तरह खाने बैठता है, तो उसकी खुराक पर केवल मक्खियाँ ही भिनभिनाती हैं। लेकिन अगर वह अपने मित्रों में बैठकर प्रेम से खाता है, तो खाना ज्यादा मीठा लगता है। आदमी अपने मित्रों से प्रेम कर सकता है, मक्खियों से नहीं कर सकता। इसलिए उसकी प्रेम की स्वाभाविक भावना तृप्त नहीं होती और वह बहुत-सी भद्दी बातें करने लगता है। वह कुत्ते-बिल्ली पालता है और उन पर अपना अतृप्त प्रेम बरसाने का व्यर्थ प्रयत्न करता है। इस प्रकार जहाँ एक बार लोग गुमराह हुए कि समस्या दिन-दिन पेचीदा होती चली जाती है । स्पष्ट है कि वह सीधी और हल तभी हो सकती है, जब लोग सम्मिलित जीवन की कला का अभ्यास करें अर्थात् एक ही पाठशाला में एक साथ पढ़े-लिखें और अध्ययन करें।

फिर विनोबा यह समझाने लगे कि गाँव के लिए किस तरह की पाठशाला होनी चाहिए। उन्हों ने कहा कि मैं जो पाठशाला स्थापित करूँगा, उसमें सबको काम करना होगा। शिक्षक और विद्यार्थी खुशी से किसी न किसी तरह के उत्पादक श्रम में लगेंगे और काम के जरिए उनके लिए जो कुछ उपयोगी होगा वह सीखेंगे। आजकल संपन्न माँ-बाप लड़के, जो पाठशाला जाते हैं, काम करने की क्षमता खो देते हैं। यह शिक्षा का विपर्यास हैं, क्योंकि इसके परिणाम-स्वरूप हमारी स्वाभाविक शक्तियाँ घट जाती हैं। इसलिए गांधीजी ने कहा है कि हमारी पाठशालाओं में तरह-तरह की उपयोगी प्रवृत्तियाँ गुँजती रहनी चाहिए। लड़कों को वहाँ खेत जोतना चाहिए, सूत कातना चाहिए और उसका कपड़ा बुनना चाहिए। और काम के साथ तथा उसके द्वारा पढ़ाई भी करनी चाहिए । अमीर और गरीब लड़कों को, ब्राह्मण और शुद्र लड़कों को, सब को पाठशाला में साथ-

साथ काम करना चाहिए और साथ-साथ पढ़ना चाहिए। ऐसी पाठशाला से एक ऐसे नए समाज का शिलान्यास होगा, जो सामाजिक और आर्थिक असमानता से मुक्त होगा।

(२६ अप्रैल, १९५१ को तेलंगाना में दिए गए एक भाषण से)

हरिजन, २-२-१९५२

शिक्षा से दो बातों की आशा रखी जाती है। विद्यार्थियों को मिलने वाली शिक्षा से उनमें इतनी कार्यक्षमता आनी चाहिए कि वे अपनी शिक्षा का लाभ लोगों को दे सकें। उन्हें जितना प्राप्त हुआ हो उससे दस गुना उन्हें लौटाना चाहिए। शिक्षा बीज बोने की क्रिया की तरह है। अच्छे बीज और बोने की सही पद्धति का परिणाम यह होता है कि कई गुना अधिक बीज उत्पन्न होता है। यही बात शिक्षा से होनी चाहिए। उस पर जितना रुपया और श्रम खर्च हुआ हो, उससे कई गुना फल मिलना चाहिए। शिक्षा से एक यह आशा की जाती है।

दूसरी आशा शिक्षा से यह रखी जाती है कि विद्यार्थीयों को इस उम्र में अपने विकास के लिए जितना भोजन चाहिए वह सब उससे मिल जाए। उनके मस्तिष्क में जो शक्तियाँ छुपी पड़ी हैं, उनके विकास में शिक्षा से मदद मिलनी चाहिए। ज्ञानवान मनुष्यों ने हमें बता दिया है कि प्रधान सत्य हमें यह सीखना है कि हम शरीर, मन और बुद्धि से भिन्न हैं। यदि शिक्षा हमें यह नहीं सिखाती तो वह व्यर्थ है, क्योंकि वह अपना मुख्य हेतु पूरा नहीं करती। शिक्षा को जो मुख्य लक्ष्य अपने सामने रखना चाहिए वह यह है की उसके द्वारा विद्यार्थी यह देख सके कि वह सच्ची प्रगति कर रहा है या नहीं—अर्थात् वह मनुष्य को उत्तराधिकार में मिली हुई समस्त उदात्त शक्तियों का सचमुच विकास कर रहा है या नहीं, अपने को भौतिक वातावरण तथा शरीररूपी साधन से भिन्न समझता है या नहीं और उन पर अपना काबू रख सकता है या नहीं। उपनिषदों में हम देखते है कि जब तक विद्यार्थी जीवन और भीतरी विकास की दृष्टि से शिक्षा के लक्ष्य की पूर्ति आचरण में नहीं कर लेता था, तब तक सारी विद्या प्राप्त कर लेने पर भी वह स्नातक नहीं माना जाता था। उसे विद्या में ही नहीं, इच्छा पर संयम रखने में भी पारंगत होना पड़ता था। अपने-आप पर प्रभुत्व प्राप्त कर लेने के प्रमाणस्वरूप उसमें अपने व्रतों का पालन करने की क्षमता आनी चाहिए। कुशल

सवार की तरह उसका अपने शरीर, बुद्धि और मन पर पूरा काबू होना चाहिए। आत्म-दमन, आत्म-नियमन और आत्मशक्ति का सदुपयोग—यह सबसे बड़ी कला है और यही शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होना चाहिए। जो इसे सिद्ध कर लेता है वह व्रत-स्नातक है, और जो पुस्तक की विद्या में पारंगत होता है वह केवल विद्या-स्नातक होता है।

जो विद्यार्थी इस परीक्षा में पास हो जाता है, वह अपने राष्ट्र की सफल सेवा के लिए सचमुच योग्य बन जाता है। केवल वही अच्छा नागरिक बनता है। वह जहाँ कहीं जाता है और जो भी काम हाथ में लेता है, उसे विश्वास और साहस के साथ करता है। आजकल तो हम देखते हैं कि विद्यार्थी के कॉलेज से बाहर निकलते ही उसके सामने अंधकार ही अंधकार छा जाता है। वही कहीं न कहीं काम में लग सकता है, मगर उसे वह काम नहीं मिलता जो वास्तव में उसकी रुचि के अनुकूल है और जिसके लिए स्वाभाविक रूप में वह योग्य है। उसने अपने सामने जो लक्ष्य रखा है उसके पास पहुँचने की भी कोई सूरत दिखाई नहीं देती। परिस्थितियाँ उसे जिधर फेंकता हैं उधर वह जाता है। इस तरह सारा भाग्य का खेल होता है। परंतु जो व्रत-स्नातक अर्थात् जो विद्यार्थी व्रतों का पालन कर लेता है, जो आत्म-दमन कर लेता है और जो व्यावहारिक जीवन की कलाओं में, खेती और बुनाई इत्यादि में प्रवीणता प्राप्त कर लेता है, वह दुःखी और उदास प्राणी की तरह सिर नीचा किए संसार में प्रवेश नहीं करता। वह छाती खोलकर और आत्म-विश्वास तथा उत्साहपूर्वक हृदय के साथ आगे बढ़ता है।

इसका अर्थ यह नहीं कि वह घमंडी और उद्धत बन जाएगा। नम्रता तो उसमें होगी ही। क्योंकि जो सचमुच ज्ञान प्राप्त कर लेता है, वह समझ लेता है कि ज्ञान अनंत है और मुझे तो उसका अणुमात्र ही प्राप्त हुआ है।

परंतु नम्रता के साथ-साथ उसमें दृढ़ निश्चय, आत्म-विश्वास, धैर्य और निर्भयता आदि गुण भी होंगे। अर्थात् उसमें बुद्धि के साथ धृति भी अवश्य होनी चाहिए, जिससे वह जीवन में सदाचारी वीर बन कर प्रवेश कर सके। शिक्षा से इस आत्म-विश्वास का विकास होने की आशा रखी जाती है। अगर यह उसमें है तो वह संसार की सेवा कर सकेगा। वह जीवन को भार नहीं समझेगा। वह

जो विद्या सीखता है, उससे पूरा संतोष अनुभव करेगा। भोजन की तरह विद्या से भी तुरंत संतोष उत्पन्न होता है। ज्यों ही आप खाने लगते हैं, आपको सुख अनुभव होने लगता है। सुख के लिए दो दिन ठहरना नहीं पड़ता। यही हाल ज्ञान का है। ज्यों ही मनुष्य यह महसूस करने लगता है कि मैंने सचमुच कुछ सीखा है, उसका चेहरा चमक उठता है और ज्ञान के लिए उसकी भूख बढ़ जाती है। उसे अपार आनंद मालूम होता है। उसे ऐसा नहीं लगता कि मेरा समय नष्ट हुआ। वह उस दिन की बाट नहीं देखता रहता कि कब पढ़ाई पूरी हो और कब उससे मेरा पिंड छूटे। असल में एक बार मनुष्य ज्ञानस्रोत का स्वाद चख लेता है, तो सतत और आजीवन उसकी ज्ञान की चाह बनी रहती है। वह निरंतर ज्ञान की साधना करता रहता है।

उपनिषद विद्यार्थी से कहते हैं कि विद्यार्थी-जीवन समाप्त हो जाने के बाद उसे गृहस्थाश्रम में अपना ज्ञान बढ़ाते रहना चाहिए। गृहस्थ ब्रह्मचारी से एक कदम आगे है। जो गृहस्थ अपना ज्ञान सदा बढ़ाता रहता है, वह न केवल भरसक प्रत्यक्ष सेवा ही करेगा, बल्कि समाज को सदाचारी और धार्मिक बनाने में भी सहायक बनेगा। अपने घर में..उसका एक पवित्र स्थान होगा और वहाँ वह नियमित अध्ययन करता रहेगा—‘शुचौ देशे स्वाध्यायम् अधीयानः’। इस प्रकार उपनिषदों में स्पष्ट कल्पना की गई है कि नियमित शिक्षाकाल पूरा होने के बाद भी अध्ययन का क्रम जारी रहे। ज्ञान प्राप्ति का क्रम जीवनपर्यंत बना रहना चाहिए।

विनोबाजी ने आगे कहा कि ज्ञानामृत का स्वाद एक बार चख लेने के बाद मनुष्य उसे छोड़ने का विचार ही नहीं कर सकता। उपनिषद्-काल के ऋषियों ने सीखने और सिखाने (‘स्वाध्याय-प्रवचने च’) का धर्म अन्य सब कर्तव्यों और सदाचारों के साथ जोड़ दिया है। इस प्रकार उन्होंने केवल ऋतु, सत्य और तप की ही सलाह नहीं दी है, परंतु यह उपदेश भी दिया है कि 'सदाचारी बनो और सीखो तथा सिखाओ', 'सत्यवान बनो और सीखो तथा सिखाओ', 'संसार की सेवा करो और सीखो तथा सिखाओ', ‘यज्ञाग्नि की सेवा करो तथा सीखो और सिखाओ' इत्यादि इत्यादि। इसका सार यह है कि गृहस्थ से जीवनभर ज्ञान-प्रचार का काम जारी रखने की आशा की जाती है।

हमने आज़ादी प्राप्त कर ली है, इसलिए हम पर उसके कारण अनेक जिम्मेदारियाँ आ पड़ी हैं। वे तभी अच्छी तरह पूरी की जा सकती हैं, जब हम में हर प्रकार के विशेषज्ञ हों। हमारा देश तभी प्रगति करेगा जब हम परिश्रम और कष्ट-सहन करके ज्ञान के भिन्न-भिन्न विभागों की खोज़ का काम करेंगे। परंतु मुझे भारत में परिश्रमी और कष्ट-सहिष्णु विद्वान बहुत थोड़े दिखाई देते हैं। इस दशा का मुख्य कारण हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली है। कारण, जब विद्यार्थी पाँच छह वर्ष साधारण पाठ्यक्रम में बिता देता है, तो उसकी सारी दिलचस्पी मारी जाती है और वह शुष्क बन जाता है। उसकी मानसिक शक्तियाँ कुण्ठित हो जाती हैं, उसकी इंद्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं और सबसे बुरी बात तो यह होती है कि उसकी सारी जीवन-शक्ति नष्ट हो जाती है। उसे आत्मा का कुछ भी ज्ञान नहीं होता, फिर शरीर से उसकी भिन्नता का भान तो हो ही कहाँ से? और जब उसे अपनी इंद्रियों को वश में रखना ही नहीं आता तब उसकी शिक्षा किस काम की?

(सिकन्दराबाद के भाषण से) **विनोबा**

हरिजन, १४-७-१९५१

४. प्रौढ़-शिक्षा

हर गाँव में शिक्षाप्रद साहित्य नियमित रूप से पढ़ा जाए। जैसे हमें जीने के लिए रोज खान ज़रूरी है, ठीक वैसे ही मस्तिष्क को भी खुराक अवश्य मिलनी चाहिए। रोटी शरीर का भोजन है और ज्ञान मस्तिष्क का भोजन है। देहातियों को चाहिए कि तुलसीकृत रामायण, गांधीजी की आत्मकथा और गीता-प्रवचन (विनोबा-कृत) के पाठ की व्यवस्था करें। किसान दिनभर मेहनत करता है। उसे स्वयं पढ़ने का समय नहीं मिलता। वह पढ़ता है तो उसकी आँखों पर असर पड़ता है। इसलिए प्रत्येक गाँव में सार्वजनिक वाचन की व्यवस्था होनी चाहिए। अगर लोगों को अच्छी बातें सुनने की आदत पड़ जाए, तो थोड़े ही समय में उनके गाँव की हालत बदल जाए।

हरिजन, २-२-१९५२ **विनोबा**

५. सर्वोदय की रूपरेखा

मित्रों की इच्छा थी कि विनोबा सर्वोदय की रूपरेखा बताएँ। इसलिए उन्होंने कहा:

> भारत के गाँवों को स्वावलंबी बन जाना चाहिए और उन्हें जहाँ तक संभव हो कीमतों के उतार-चढ़ाव से बचा लेना चाहिए। ज़रूरी कच्चा माल गाँव में ही पैदा होता हो, तो उन्हें अपने ही गाँव में अपनी ज़रूरत का पक्का माल तैयार कर लेना चाहिए। यंत्रों पर सारे समाज का अधिकार होना चाहिए। उत्पादन और अंतिम वितरण के बीच में कोई दलाल नहीं होना चाहिए। अहिंसा के आधार पर खड़ा समाज बीच के दलालों के मारफत काम नहीं कर सकता। सब को खाना मिलना चाहिए और सब को काम करना चाहिए। राष्ट्र की आर्थ-व्यवस्था की योजना सम्मिलित परिवार के ढंग पर होनी चाहिए। अगर चरखे से सब को काम मिल सके, तो उसे काम में लेना चाहिए। अगर आप सारे राष्ट्र के लिए योजना नहीं बना सकते और आपको भेदभाव करना ही पड़े, तो उस सूरत में मैं अपने को साम्यवादी मानकर कहता हूँ कि अपनी योजना बनाने में आपको गरीबों के पक्ष में भेदभाव करना चाहिए। संक्षेप में सर्वोदय की मेरी रूपरेखा यही है।

हरिजन, २-८-१९५२ **विनोबा**

६. आर्थिक समता की ओर

ज़मीन किसान को अस्थायी तौर पर—मिसाल के तौर पर दस साल के लिए—दी जानी चाहिए। किसान ने पिछली बार जितनी कृषिसंबंधी योग्यता दिखाई हो, उसका खयाल करके आगे के लिए दुबारा करार किया जा सकता है; इस अर्से के बाद फिर दस वर्ष के लिए ज़मीन कम या ज्यादा मात्रा में दी जा सकती है। जो लोग पहले किसान थे उन सब की छोड़ी हुई भूमि वापस ग्राम-समाज की हो जानी चाहिए और नए उम्मीदवारों को ग्राम-समाज ही जमीन देगा। ग्राम-समाज गाँव की फसलों की योजना नीचे गाँव के किसानों से व्यक्तिशः सलाह करके और ऊपर जिला, प्रांत और केन्द्रीय सरकार से सलाह-मशविरा करके बनायगा और व्यक्तिगत रूप में प्रत्येक किसान को ग्राम-समाज की योजना के अनुसार चलना होगा। गाँव के प्राकृतिक साधनों और लोगों की मुख्य आवश्यकताओं का विचार करके संतुलित खेती करनी पड़ेगी। उसका लक्ष्य १५-२० गाँवों के प्रदेश के लिए आवश्यक पदार्थों में स्वावलंबन प्राप्त करना होगा और फाजिल चीजें ही अनेक कामों वाली सहकारी समिति के मारफत बेची जाएगी। किसी चीज़ का मानी हुई इकाई के उत्पादन में कितने घंटों का मनुष्य-श्रम लगता है, इसका विचार करके सहकारी समिति भिन्न-भिन्न पदार्थों की लागत कीमत तय करेगी। इन कीमतों के आधार पर वस्तुओं के विनिमय का अनुपात निश्चित करके सहकारी समिति के मारफत गाँव के व्यक्तियों में चीजों की अदला-बदली की जाएगी। गाँव और प्रदेश का सारा आयात-निर्यात सिर्फ सहकारी समिति के द्वारा ही किया जाएगा। यह समिति केवल रूपये-पैसे संबंधी काम ही नहीं करेगी, परंतु इस तरह काम करने वाला एक सहकारी संगठन होगी, जो लोगों को विविध उद्योग और किसी उद्योग की भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ करने में प्रोत्साहन देगी और अलग-अलग तरह की पैदावार की बिक्री और खरीद का प्रबंध करेगी। खाद तैयार किया जाएगा, पाल बाँधकर गाँव की ज़मीन का कटना रोका जाएगा, नदी-नालों में बाँध बाँधकर उनसे आबपाशी की जाएगी, देहातियों के ही उत्साह और मेहनत से गाँव के भीतर सड़कें बनाई जाएगी और सरकार सिर्फ सामान का खर्च उठाएगी। हमें भूमिहीन मज़दूरों का संगठन करके उन्हें अपने अधिकारों और जिम्मेदारियों की शिक्षा देनी होगी।

स्वदेशी धर्म के पालन के बारे में यह बात है कि हमें स्वदेशी पुराने विचार को पुनर्जीवित करना चाहिए। मगर यह ध्यान रखना होगा कि स्वदेशी का हमारा अर्थ यह है कि पहले तो हमारे पड़ोस में पैदा हुई चीजें ली जाए और उसके बाद ही दूर की मिलों में बनी हुई वस्तुएँ ली जाए। विदेशी माल लोगों को जहाँ तक हो सके नहीं खरीदना चाहिए। यह स्वदेशी का सामान्य पालन हुआ, जिस में विशेष कर्तृत्व नहीं है। सक्रिय भाग यह है कि सभी लोग अपना दिमाग लगाकर विदेशी माल की जगह लेने वाला देशी माल तैयार करें। काफ़ी प्रचार के बाद ऐसी स्थिति आ सकती है जब विदेशी माल की होली करने आदि के सक्रिय कार्यक्रम रखे जा सकें। परंतु उससे पहले हजारों आदमियों के द्वारा लोगों में स्वदेशी के दोनों पहलुओं के बारे में व्यापक प्रचार और कार्य हो चुकना चाहिए। इस प्रकार जब भूमिका फिर से बँटवारा हो जाएगा और लोगों में स्वदेशी की भावना आ जाएगी, तब हम सब को काम में लगा सकेंगे, राष्ट्र की आय का फिर से न्यायपूर्ण बँटवारा कर सकेंगे और इस प्रकार आर्थिक समानता प्राप्त कर लेंगे।

जे॰ सी॰ कुमारप्पा

(सेलडोह, मध्यप्रदेश, में एक शिविर में दिए गए भाषणों से)

हरिजन, २४-१-१९५३

७. सर्वोदयी योजना

हम भारत के विकास की समस्या के विषय में सर्वोदयी दृष्टिकोण के बुनियादी उसूलों का विचार करें:

(१) जीवन के प्रति आदर सर्वोदय का पहला सिद्धांत है। इस दृष्टिकोण के अनुसार भारत के विकास का अर्थ मुख्यतः यह है कि भारत के प्राणियों—मानव और पशु दोनों—के जीवन और व्यक्तित्व का स्वस्थ और सर्वांगीण विकास हो। पशुओं का समावेश व्यवहार में उसी हद तक किया जाएगा, जिस हद तक वे मानव-जीवन के अभिन्न अंग बन गए हों। मनुष्य-समाज में जिनका प्रवेश हो गया है, उनमें गाय सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रतीकरूप पशु है।

(२) इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए प्राकृतिक साधन अत्यंत ज़रूरी हैं, इसलिए उनके विकास की उपेक्षा नहीं की जा सकती। परंतु जीव और प्रकृति के बीच में यह भेद होता कि जीव का विकास साध्य रहे और प्रकृति का विकास साधन हो। जीव को हानि पहुँचाकर प्रकृति का विकास नहीं होना चाहिए और प्रकृति के साधनों का अपव्यय भी नहीं होना चाहिए। इस अर्थ में मूक और निर्जीव प्रकृति का भी 'शोषण'—दुरुपयोग नहीं किया जा सकता। यद्यपि मनुष्य पर अकसर परिस्थितियों का असर पड़ता है और वह उनका गुलाम भी बन जाता है; फिर भी आखिर तो वह परिस्थितियों का स्वामी और स्त्रष्टा है, न कि उनकी उपज; इसलिए उसके विकास को गौण और प्रकृति के विकास को प्रधान नहीं बनाया जा सकता। प्रकृति का विकास मनुष्य के लिए और उसकी सहायता से करना होगा; उसे प्रकृति के विकास का निरा हथियार नहीं बनाना है।

(३) इसलिए प्रत्येक समाज और राज्य का पहला काम यह होना चाहिए कि उसकी सीमा में रहने वाले हरएक आदमी को वह काम दे। काम हरएक को उसकी योग्यता के अनुसार और तुरंत उपलब्ध साधनों के द्वारा प्राप्त होना चाहिए। उसके लिए और उसकी मदद से काम और साधनों में उत्तरोत्तर सुधार होता रहना चाहिए। परंतु उसका लक्ष्य व्यक्ति का विकास होगा और उसके सहयोग से ही उसका संपादन करना होगा। यह उन्नति उसी हद तक ज़रूरी और उचित है, जिस हद तक वह प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण की साधक हो, यानी सर्वोदयकारी हो।

(४) जीवन-स्तर और रहन-सहन के स्तर में भेद करना चाहिए। बुनियादी वस्तु पहली है, न कि दूसरी। रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो जाने से जीवन का स्तर नीचा भी हो सकता है। क्योंकि संभव है इससे मनुष्य के शारीरिक, नैतिक बौध्दिक और आध्यात्मिक मापदंड और शक्तियाँ घट जाए। इसलिए प्रकृति का प्रगतिशील विकास रहन-सहन के स्तर के अनुरूप नहीं, परंतु जीवन के स्तर की उन्नति के अनुरूप होना चाहिए।

(५) योजना का काम दो उद्देश्यों से होना चाहिए: मनुष्य के विकास के मार्ग से प्राकृतिक या मानव-कृत बाधाएँ दूर करना और उसके लिए साधन, प्रशिक्षण और पथ-प्रदर्शन की व्यवस्था करना।

(६) मनुष्य के विकास में आने वाली बाधाएँ ये हैं: (क) शासनतंत्र और संपत्ति के उत्पादन में अधिक केन्द्रीकरण; (ख) जिस जमीन को वे खुद नहीं जोतते और इसलिए उसके निष्क्रिय जमींदार बन जाते हैं, उसका स्वामित्व और नियंत्रण मुट्ठीभर लोगों के हाथ में अथवा सरकार या किसी कंपनी जैसी यांत्रिक संस्था के हाथ में आ जाना; (ग) धनप्रधान अर्थ-व्यवस्था, जिसके कारण लोग व्यापार-व्यवसाय, मुनाफा और आय वगैरा के लिए काम करते हैं और अपनी तथा समाज की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए काम नहीं करते; इसका परिणाम यह होता है कि परोपजीवियों या मुफ्तखोरों की एक बड़ी जमात पैदा हो जाती है; (घ) आधुनिक ढंग की दासत्व-प्रणाली; (ङ) ब्याज की प्रथा और उसके साथ-साथ साहूकारों और गैर-काश्तकारों के पास कारखानों के रूप में बड़ी-बड़ी सम्पत्तियों के स्वामित्व का अधिकार आ जाना; (च) एक तरफ राज्य और समाज के उन्नत वर्गों द्वारा साधारण मनुष्यों के स्वास्थ्य और शिक्षा, औजार, बीज और कच्चे माल के बारे में नितांत उपेक्षा-वृत्ति और दूसरी तरफ ऐसे अधिकारों और परंपराओं पर जोर देना, ऐसे रिवाज़ों, आदतों, बुराइयों, फैशनों और भोग-विलास का प्रचार करना और ऐसे प्रलोभन उपस्थित करना, जिन सबके परिणाम स्वरूप पीढ़ी-दर-पीढ़ी मनुष्य का क्रमशः ऱ्हास होता है; और (छ) ऐसी राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना, जिसमें मनुष्य लगभग कोई हिस्सा नहीं ले सकता, अपनी इच्छा से कुछ कर नहीं सकता, परंतु अपने को चारों तरफ से बुरी तरह जकड़ा हुआ पाता है।

(७) अगर अबाधित शोषण के लिए दूसरे राष्ट्र उपलब्ध न हों, तो प्राकृतिक साधनों का कितना ही विकास क्यों न किया जाए, परंतु इन रुकावटों को दूर किए बिना प्रत्येक की तो क्या, बहुसंख्या की भी भलाई नहीं की जा सकेगी। खास तौर पर भारत जैसे पूरी आबादी वाले देशों में। बेकारी और महँगाई की और इनके कारण रहन-सहन की अमानुषिक स्थितियाँ, रोग, दारिद्र्य, भूक, आम लोगों की गुलामी, स्त्रियों के लिए अरक्षित और अशोभनीय स्थिति, डाकेजनी, लूट और शासन तथा व्यापार में भ्रष्टाचार की समस्याएँ अवश्य बनी रहेंगी और बढ़ भी सकती हैं। माल की और खाद्य-पदार्थों की बहुतायत होते हुए भी अपर्याप्तता, अतृप्त आवश्यकताओं और अपनी योग्यता के उपयोग के लिए उचित अवसर के अभाव की बुराइयाँ बनी रहेंगी।

(८) अगर सरकार यथासंभव इन बाधाओं को दूर करने के सिवा और कोई योजना न बनाए, तो भी लोग तेज़ी से नहीं तो धीरे-धीरे ही जीवन में उन्नति करेंगे। अगर इससे आगे बढ़कर योजना द्वारा लोगों को रचनात्मक सहायताएँ भी देनी हों, तो उनके तात्कालिक उद्देश्य ये होने चाहिए:

(क) खाद्य और पुष्टिकारक पदार्थों के मामले में पूरी तरह ही नहीं, बल्कि उससे भी अधिक स्वयंपूर्ण होना चाहिए। अंत में हमारा पूर्ण स्वराज्य पौष्टिक पदार्थों की हमारी स्वयंपूर्णता पर ही निर्भर रहेगा, न कि हमारे शस्त्रास्त्रों पर। इसलिए इसे योजना के अन्य सब अंगों से प्राथमिकता मिलनी चाहिए; (ख) अन्न की केवल विपुलता ही नहीं होनी चाहिए, बल्कि वह यातायात की अत्यधिक आवश्यकता के बिना सबको आम तौर पर सुलभ भी होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि अधिक से अधिक स्वयंपूर्ण इकाइयाँ हों—सामान्य इकाई एक गाँव को माना जाए; (ग) खुराक आम तौर पर हरएक तंदुरुस्त आदमी को इज्जत के साथ, न कि दान या सदाव्रत वगैरा के रूप में, सुलभ होनी चाहिए। इसका मतलब यह है कि कोई भी स्वस्थ मनुष्य बेकार न रहे। स्वयंपूर्णता के आधार पर खुराक की पैदावार के साथ-साथ काम देने की व्यवस्था भी कार्यक्रम का अंग होना चाहिए; (घ) योजना का दूसरा रचनात्मक अंग कुदरती तौर पर राष्ट्र के प्रशिक्षण की व्यवस्था का होगा और उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति की दृष्टि से नई तालीम के सिवा राष्ट्र की तालीम की और कोई प्रणाली नहीं हो सकती। बुनियादी शिक्षा इसीका एक भाग हैं; (ङ) डॉक्टरी

उपचार, दवादारू, टीके और इंजेक्शन आदि से पहले सफ़ाई, स्वास्थ्य-विज्ञान, सिंचाई तथा पीने के स्वच्छ पानी की व्यवस्था होनी चाहिए; (च) खेती के औज़ार कर्जदारी पैदा किए बिना सुलभ होने चाहिए; (छ) सार्वजनिक उपयोग की सेवाओं (डाक, तार, यातायात, ट्रेक्टर उधार देना, बीज मुहैया करना, नमक जैसे अत्यावश्यक पदार्थों का उत्पादन-वितरण आदि) की व्यवस्था सरकार करे या सार्वजनिक संस्थाएँ करें या कोई खानगी व्यापारिक संस्था करे, परंतु वह व्यवस्था मुनाफे के लिए या बचत की दृष्टि से नहीं होनी चाहिए; (ज) शराब, नशीले पदार्थ, चाय, लेमन आदि ठंडे पेय, तम्बाकू आदि की निकम्मी और खर्चीली आदतें, जुआ, पहेलियाँ आदि कमाई के आसान तरीके और भद्दे खेल-तमाशे तथा गीत आदि प्रलोभनों को प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए और न आमदनी के लिए उनके परवाने दिए जाने चाहिए; (झ) जो सरकार अपनी प्रजा से यह कहती है कि जब तक आबादी घटाई नहीं जाएगी तब तक कल्याण-राज्य की स्थापना नहीं की जा सकती और संतति-नियमन के लिए कृत्रिम साधन उपलब्ध करने की योजना बनाती है, वह शासन करने के लिए उतनी ही अयोग्य है जितनी कि वह सरकार, जो साम्राज्य और युद्ध के हेतु से जबरन् आबादी बढ़ाती है। जो शिक्षा मनुष्य को अपने विकारों पर प्रभुत्व प्राप्त करने में असमर्थ बनाती है और आपत्तिजनक साधनों द्वारा संभोग के परिणामों से बचने की सलाह देती है, वह अपनी और शासन दोनों की असफलता प्रकट करती है। इसलिए शिक्षा की योजना में जड़मूल से परिवर्तन होना चाहिए।

सर्वोदयी योजना के मूल उद्देश्यों में कुछ यहाँ मैंने अपनी समझ के मुताबिक दिए हैं। योजना अल्पकालिक हो या दीर्घकालिक, उसका उद्देश्य इन्हीं लक्ष्यों की पूर्ति होना चाहिए।

हरिजन, २७-१०-१९५१ **कि॰ घ॰ मशरूवाला**

बारहवाँ विभाग: कार्यक्रम

१. पंचसूत्री कार्यक्रम

इसके साथ प्रकाशित दो आलोचनाओं से और संमेलन से लौटने वाले कुछ दर्शकों के विवरणों से ऐसा मालूम होता है कि विनोबाजी और रचनात्मक कार्य के अन्य नेताओं ने राष्ट्र के सम्मुख एक पंचसूत्री कार्यक्रम रखा है। विनोबाजी ने इसे अपनी सूत्रशैली में एक श्लोकार्ध में यों पेश किया है:

'अंतःशुद्धिः, बहिःशुद्धि,, श्रमः, शांतिः, समर्पणम्।'

१. अंतःशुद्धि वही चीज़ है जिसे हमने शुद्ध व्यवहार आंदोलन कहा है। इसमें लोगों के लिए यह आदेश है कि वे धन कमाने या पदार्थ और सुख-सुविधाएँ जुटाने के अनुचित उपाय छोड़ दें और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए मिलकर सामूहिक ढंग से काम करें।

२. बहि:शुद्धि स्वच्छता का सर्वोदयी कार्यक्रम है। आम तौर पर हमारी यह ख्याति है कि हम व्यक्तिगत शुद्धि का बहुत आग्रह रखते हैं। सार्वजनिक सफ़ाई और स्वच्छता का बोध जो लोग वैयक्तिक शुद्धि के लिए प्रसिद्ध हैं, उनमें भी अधिक से अधिक अभी अंकुरित ही हो रहा है। आम जनता में यह समझ बहुत कम हैं; और लोगों में बहुत सी बीमारियों और संक्रामक रोगों के सदा फूट निकलने का यही मुख्य कारण है। सर्वोदय की सिद्धि के लिए दूसरी ज़रूरी चीज यह है कि व्यक्तिगत और सार्वजनिक दोनों प्रकार की बाहरी स्वच्छता का जोरदार आंदोलन किया जाए।

३. श्रम सर्वोदय के लिए तीसरी बड़ी शर्त हैं। सदियों से हमने श्रम के गौरव और मूल्य को नष्ट करने के लिए सब-कुछ किया है और जो लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी कड़ा परिश्रम करके हमारे लिए अन्न, वस्त्र, मकान, सजावट का सामान, आभूषण और जीवन के आराम की विविध वस्तुएँ पैदा करते रहे हैं, उनकी हमने उपेक्षा ही नहीं की है, बल्कि उन्हें दबाया और अपमानित भी किया है। जिन्हों ने हमारे कपड़े और बरतन धोये, हमारी गलियाँ और गोशालाएँ बुहारीं, हमारे पाखाने और पेशाब-घर साफ किए, हमारे कपड़े, बरतन और जूते वगैरा तैयार किए, वे गौरव की हमारी कल्पना में सबसे नीचे दर्जे पर हैं। हम उन्हें अनादर की दृष्टि से देखते हैं, उनके साथ गुस्ताखी से पेश आते हैं और समाज में उनका अपमान करते है; मंदिरों में भी, जहाँ हम प्रभु की पूजा के लिए इकट्ठे

होते हैं, उनके लिए या तो कोई स्थान ही नहीं होता या नीचा और दूर का स्थान होता है। धन, सत्ता या पोथी-पांडित्य को ही सारा सम्मान दिया जाता है। नतीजा यह है कि उत्पादन घट गया है, भोग-विलास के जीवन की इच्छा बढ़ गई है और मेहनत न करने पर भी सब आराम चाहते हैं, जो कठोर परिश्रम से ही मिल सकता हैं। यह लक्ष्य असंभव है। मेहनत हम अपने खाली हाथों से करें अथवा औज़ारों या यंत्रों की सहायता से करें, मेहनत हमें करनी ही चाहिए। श्रम करने की क्षमता और इच्छा को विकसित शरीर और सुसंस्कृत मन की निशानी समझना चाहिए।

४. शांति इस कार्यक्रम का चौथा अंग है। शांति को यहाँ युद्ध-निवारण के सीमित अर्थ में नहीं समझना चाहिए। यहाँ युद्ध के उन्मूलन का कोई निषेध नहीं है; परंतु युद्ध उन छोटे-छोटे संघर्षों का बृहत् संस्करण है, जो हर छोटे समूह में अकसर होते रहते हैं। अगर छोटे-छोटे समूहों को आपस में प्रेम से रहना, छोटे-छोटे झगड़ों को आपस में निपटा लेना और अपने छोटे से संसार से डर और ईर्ष्या को मिटा देना आ जाए, तो इससे बृहत्तर जगत में लड़ाई की जड़ ही कट जाएगी।

५. अंतिम अंग समर्पण का है। यानी गांधीजी की बरसी के दिन एक गुडी अपने काते हुए सूत की देना है। अपने काते हुए सूत की यह छोटी-सी गुडी इस बात का चिह्न है कि समर्पण-कर्ता को गांधीजी के प्रति आदर है, सर्वोदय के आदर्श, शरीर-श्रम और व्यक्तिगत सेवा में श्रद्धा है, अहिंसक और अशोषक व्यवस्था में श्रद्धा है और अमीर-गरीब के बराबरी के दर्जे में श्रद्धा है।

हरिजन, २८-४-१९५१ **कि॰ घ॰ मशरूवाला**

२. समग्र सेवा

विनोबा ने कहा कि समग्र सेवा का अर्थ सब चीजों को एकसाथ हाथ में ले लेना नहीं है। इसका मतलब यह है कि किसी चुने हुए कार्य के आसपास धीरे-धीरे और स्वाभाविक रूप में कार्य के दूसरे अंगों की वृद्धि और विकास होना चाहिए।

अपनी बात को अधिक समझाते हुए विनोबा को कई वर्ष पहले की अपनी अनंतपुर (मध्यप्रदेश) की यात्रा याद आ गई। वहाँ एक कार्यकर्ता खादी का केन्द्र चलाते थे। वहाँ का काम बंद हो गया था और विनोबा को उसके कारणों की जाँच करने के लिए कहा गया था। विनोबा ने ध्यान से उस काम की जाँच की और बताया कि काम की वृद्धि के रुक जाने का एक कारण यह था कि कार्यकर्ता ने जीवन की और सब बातों की सर्वथा उपेक्षा करके केवल खादी पर ही सारी शक्ति केन्द्रित कर दी थी। उदाहरणार्थ, गाँव वाले खुले में शौच जाते थे, फिर भी इस घोर असभ्यता की तरफ कार्यकर्ता का ध्यान नहीं गया। वह पूरी तरह खादीकार्य में लगा रहता था और दूसरा उसे कुछ दिखाई ही नहीं देता था। विनोबा ने कहा कि यह एकाग्रता ऐसी है, जो सर्वतोमुखी जागरूकता के विपरीत है। असल में यह एकाग्रता ही नहीं, बल्कि एक प्रकार की एकांगिता है। संकीर्णता तो वांछनीय नहीं है, मगर इसका यह अर्थ नहीं कि आप एकाग्रता को ही तिलांजलि दे दें। एकाग्रता और समग्र दृष्टि दोनों ज़रूरी हैं।

(एक भाषण के सार से) **विनोबा**

हरिजन, २३-६-१९५१

बहिष्कार—रचनात्मक कार्यक्रम के अंग के रूप में

जो लोग वास्तविक नई समाज-व्यवस्था के लिए काम करने की महत्त्वाकांक्षा रखते हैं, उन्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि जहाँ वे कोई रचनात्मक काम करें वहाँ उन्हें वर्तमान समाज-व्यवस्था को खतम करने के लिए भी अवश्य काम करना चाहिए। क्रांति का यह आवश्यक लक्षण है।

क्रांति की पूर्वशर्तें

क्रांति या तो सरकार द्वारा की जा सकती है अथवा आम लोगों और सार्वजनिक कार्यकर्ताओं द्वारा। अगर इस प्रक्रिया में सरकार पहल करना चाहती है, तो उसे अनिवार्य रूप में मशीनों का उत्पादन, भैंस का संरक्षण और पुरानी शिक्षा-प्रणाली को बंद कर देना चाहिए। अगर सरकार ऐसा करने का निश्चय नहीं करती, तो जितना भी रुपया वह विकेन्द्रित उद्योगों की उन्नति के लिए खर्च करती है वह सब व्यर्थ हैं। इसके विपरीत, यदि यह क्रांति सार्वजनिक संस्थाओं और जनसेवकों को करनी है, तो उन्हें दोहरा कार्यक्रम अपनाना होगा—एक तरफ चरखे, ग्रामोद्योग, गोसेवा और बुनियादी तालीम की उन्नति और दूसरी ओर यांत्रिक उत्पादन, भैंस-पालन और पुरानी शिक्षा का बहिष्कार। उन्हें स्वयं अपने जीवन में और अपनी संस्थाओं के जीवन में बहिष्कार के कार्यक्रम को अपनाना होगा और उस पर अमल करने का व्रत लेना होगा। उन्हें दूसरे व्यक्तियों और संस्थाओं को भी ऐसा ही करने को समझाना चाहिए। और जब उन्हें मालूम हो जाए कि जनता काफी जाग्रत हो गई है, तब उन्हें बहिष्कार का व्यापक आंदोलन शुरू कर देना चाहिए। अगर हम ऐसा नहीं कर सकते तो सामाजिक क्रांति की दृष्टि से हमारा रचनात्मक कार्य बिलकुल व्यर्थ सिद्ध होगा।

अपने दौरे में जब कभी मैंने यह विचार अपने साथियों अथवा संस्था-संचालकों के सामने रखा है, उन्होंने इसे तुरंत पसंद किया है। सिद्धांत में कोई मतभेद नहीं है। इसमें सब सहमत हैं कि यही ठीक काम है। परंतु इस कार्यक्रम पर अमल करने में वे सब बड़ी कठिनाइयाँ बताते हैं। वे कहते हैं कि परिस्थितियाँ अनुकूल नहीं है। अगर ऐसा है तो जब हमारी सरकार यंत्रों की पैदावार पर पाबंदी लगाने में असमर्थता प्रगत करती है, तब हमारे कार्यकर्ता और संस्थाएँ क्यों असंतुष्ट होते हैं? चूँकि सरकार के सामने भी वही मुश्किलें हैं, इसलिए हमें उसके खिलाफ कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। हम क्रांति की बात करते हैं, फिर भी विपरीत परिस्थितियों और कठिनाइयों से कायर बन जाते हैं। तब सरकार जो रवैया अख्तियार करती है, उस पर हमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

मुझे इस बात से इनकार नहीं कि ऐसे अवसर आते हैं, जब परिस्थितियाँ अत्यधिक बाधक साबित होती हैं। परंतु क्या हम ईमानदारी से कह सकते हैं कि हमारे कार्यकर्ता और संस्थाएँ जो कुछ कर सकते हैं सो सब कर चुके हैं और अब केवल परिस्थिति ही उनके प्रयत्नों को विफल कर रही है? मेरे खयाल से ऐसी बात नहीं है।

ज़रूरत है स्पष्ट दृष्टि की, दृढ़ निश्चय की और सर्वार्पण-बुद्धि की। पहले हमें भोजन और वस्त्र के क्षेत्र में मशीनी माल के बहिष्कार का नारा उठाना चाहिए। बाद में हम अपने नारे का विस्तार दूसरे क्षेत्र में कर सकते हैं। हम विशेष वस्तुओं को चुन कर भी उन पर अपनी शक्ति केन्द्रित कर सकते हैं। संभव है सभी व्यक्ति और संस्थाएँ बराबर कारगर न हो सकें, मगर प्रगति तो होगी। लेकिन अगर हमने इस दिशा में बुद्धिपूर्वक प्रयत्न नहीं किया, तो हमें जल्दी ही पता लग जाएगा कि हम उद्देश्यहीन हैं और हमारे भाग्य में असफलता लिखी है। हमारा त्याग और चरित्र हमें व्यक्तिगत आध्यात्मिक सांत्वना और संतोष भले दे दे, मगर सामाजिक क्रांति का महान स्वप्न अधूरा ही रह जाएगा।

हमने देख लिया कि स्वराज्य-संग्राम के ऐतिहासिक दिनों में हमारा स्वदेशी आंदोलन विफल हो जाता, अगर हमने साथ-साथ विदेशी बहिष्कार न चलाया होता। इसी तरह अगर अब हम ग्रामोद्योग आदि को लोकप्रिय बनाने के आंदोलन के साथ-साथ मशीनी माल के बहिष्कार का आंदोलन नहीं छेड़ सकेंगे, तो ग्रामोद्योग की हमारी सारी चिल्लाहट से कुछ ज़रूरतमंद लोगों को थोड़ी सी मदद मिल जाने से ज्यादा और कुछ नहीं हो सकेगा। अवश्य ही उससे ऐसी समाज-व्यवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती, जो विकेन्द्रित, आत्म-निर्भर और शोषण-रहित हो।

मुझे पूरी आशा है कि मेरे साथी और रचनात्मक कार्यकर्ता मेरी इस अपील पर गंभीर विचार करेंगे।

हरिजन, १३-१०-१९५१ **धीरेन्द्र मजूमदार**

परिशिष्ट

कहानी

[**निम्नलिखित** कहानी ईसा की वह कहानी है, जिससे रस्किन को अपनी पुस्तक का नाम *अन्टु दिस लास्ट* रखने की प्रेरणा मिली थी और जिसका अनुवाद गांधीजीने 'सर्वोदय' नाम से किया था।–सं॰]

स्वर्ग उस गृहस्थ की भाँति है, जो सुबह ही सुबह अपने अंगूर के बगीचे के लिए मजदूर जुटाने निकला।

उसने मजदूरों से एक पैसा रोज मजदूरी तय कर ली और उन्हें अपने बाग में भेज दिया।

लगभग तीन घंटे के बाद वह फिर निकला और कुछ अन्य लोगों को मंडी में बेकार खड़े देखा।

उसने उनसे कहा: तुम भी बाग में चले जाओ। जो उचित होगा तुम्हें दूँगा। वे चले गए।

छते और नवें घंटे के करीब वह फिर बहार गया और उसने ऐसा ही किया।

ग्यारहवें घंटे के लगभग वह फिर निकला और उसने देखा कि दूसरे कुछ लोग बेकार खड़े हैं। उसने उनसे कहा: यहाँ दिनभर बेकार क्यों खड़े रहते हो?

वे उससे कहने लगे: क्योंकि हमें किसीने मजदूरी पर नहीं लगाया। उसने उनसे कहा: तुम भी अँगूर के बाग में चले जाओ; जो उचित होगा तुम्हें मिल जाएगा।

इस प्रकार जब शाम हुई तो बाग के उस मालिक ने अपने मुनीम से कहा: मज़दूरों को यहाँ बुला लो और आखिरी से शुरू करके सबसे पहले दल तक को मजदूरी चुका दो।

जब वे लोग आये, जो ग्यारहवें घंटे में रखे गए थे, तो उन्हें फी आदमी एक पैसा मिला।

जब सबसे पहले दल के लोग आए तो उन्होंने सोचा कि उन्हें ज्यादा मजदूरी मिलनी चाहिए; लेकिन उन्हें भी दूसरों की तरह फी आदमी एक पैसा ही मिला।

जब उन्हें एक पैसा मिल गया, तो वे उस भले गृहस्थ के खिलाफ बड़बड़ाने लगे।

कहने लगे: इन्होंने सिर्फ एक ही घंटा काम किया और तुमने इन्हें भी हमारे बराबर मजदूरी दी; हमने तो दिनभर बोझा ढोया और गरमी बरदाश्त की है।

परंतु उस गृहस्थ ने उनमें से एक को उत्तर दिया और कहा: भाई, मैंने तेरे साथ अन्याय नहीं किया। कया तूने एक पैसा लेकर काम करना स्वीकार नहीं किया था?

जो तेरा है तू ले-ले और अपने रास्ते चला जा। मैं इस आखिरी आदमी को भी उतना ही दूँगा जितना मैंने तुझे दिया है।

मैथ्यू, २०-१-१९१४

* * * * *